कला क्या है

टाल्स्टाय

रूपान्तरकार
इन्दुकान्त शुक्ल

हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, बनारस

ये ही प्रचलित सिद्धान्त है, और इन्ही के आधार पर तथाकथित कलाकृतियाँ बनती हैं और प्रथम, द्वितीय या तृतीय सिद्धान्त के अनुरूप ठहरती हैं। परन्तु न केवल ये परस्पर विरोधी है वरन् इनमें से एक भी सिद्धांत प्रमुख शर्त की पूर्ति नही करता; अर्थात्—उस परिधि का निर्धारण जो व्यावसायिक, क्षुद्र, और हानिकर उत्पादनों को कला से अलग रखे।

प्रत्येक सिद्धान्त के अनुसार अनवरत रूप से कृतियाँ उत्पन्न की जा सकती हैं (जैसा कि दस्तकारी में है) भले ही वे नगण्य और हानिकर हो।

जहाँ तक पहले सिद्धांत 'प्रवृत्तिवाद' का प्रश्न है महत्वपूर्ण (श्रेष्ठ) विषय—धार्मिक, नैतिक, सामाजिक या राजनीतिक—सर्वदा सुलभ हैं, अत. तथाकथित कलाकृतियाँ निरंतर बनाई जा सकती हैं। और फिर, ऐसे विषयो को इतने धुंधले और छिछलेपन से निदर्शित किया जा सकता है कि श्रेष्ठ वस्तु-तत्व छिछली अभिव्यक्ति के कारण निम्न कोटि का हो जाता है।

ठीक उसी तरह द्वितीय सिद्धात 'सौदर्यवाद' के अनुसार जिस व्यक्ति ने कला की एक भी शाखा का ज्ञान प्राप्त किया है, वह अनवरत रूप से कुछ सुन्दर और सुखद कृतियाँ रच सकता है, परंतु यह सुन्दर सुखद वस्तु नगण्य और अशिव हो सकती है।

इसी तरह तृतीय सिद्धांत 'यथार्थवाद' के अनुसार, कलाकार बनने का इच्छुक हर व्यक्ति अनवरत रूप से तथाकथित कला की वस्तुएँ उत्पन्न कर सकता है, क्योकि हर व्यक्ति हमेशा किसी वस्तु में अवश्य दिलचस्पी रखता है। यदि रचयिता नगण्य और अशिव में दिलचस्पी रखता है तो उसकी रचना भी नगण्य और अशिव होगी।

प्रमुख तात्पर्य यह है कि प्रत्येक सिद्धात के अनुसार कलाकृतियाँ निरतर बनाई जा सकती हैं, जैसा कि हर दस्तकारी में होता है, और वस्तुन. इसी प्रकार वे बनाई भी जा रही हैं। अतः ये तीन प्रमुख और असंगत सिद्धात न केवल कला को कला-रहित से अलग करने की रेखा का निर्धारण करने में ही असमर्थ है, अपितु ये कला के क्षेत्र को विस्तीर्ण कर देते हैं औ उसके भीतर उस सबका समावेश कर लेते हैं जो नगण्य और अशिव है।

निवेदन

मूल ग्रंथ का अनुवाद करना तो कठिन है ही, परंतु अनुवाद का अनुवाद करना संभवतः और भी कठिन है क्योंकि इस परिस्थिति में मल लेखक के मंतव्यो के अविकल ग्रहण की चिन्ता और उनके तथैव प्रकाशन की चेष्टा,कई गुना अधिक हो जाती है। अनुवादक ईमानदार 'इंटरप्रेटर' (दुभाषिया) का कार्य करता है। यह कार्य जितना ही दुर्गम है उतना ही दायित्वपूर्ण भी। पाठक और लेखक के बीच उपस्थित होकर भी वह अदृश्य रहे—यही उसकी सफलता है। तभी लेखक एवं पाठको के प्रति न्याय हो पाता है। मैं नहीं जानता इस दृष्टि से स्थापित कर दे—यही अनुवाद का अभिप्राय है। प्रस्तुत प्रयास कितना सफल है।

'दि लिसेनर' नामक पत्रिका में वी० सैकविल-वेस्ट के कथनानुसार "कवियों में जो पद शेक्सपियर का है उपन्यासकारों में वही पद तालस्ताय का है—शेष सबसे बहुत ऊपर।" यह तो निर्विवाद है कि तालस्ताय सर्वश्रेष्ठ औपन्यासिकों की श्रेणी में हैं। इस नाते वे एक उत्तम कलाकार थे। फलस्वरूप कला विषयक उनका चिंतन और निष्कर्ष समाधान की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण एवं संग्रह की दृष्टि से मूल्यवान् है। उनकी स्पष्टता स्तुत्य है—विचारणा और अभिव्यंजना दोनों की। उनके द्वारा प्रतिपादित सिद्धांत बहुत संक्षेप में सरलतापूर्वक सूत्रवद्ध किया जा सकता है। परंतु पुनरावृत्ति की अधिकता कहीं कहीं दुरूह हो गई है। संभवतः उनका अभिप्राय शिक्षक का कार्य संपादित करना था, अर्थात् प्रत्येक संभव प्रकार एवं व्यापार द्वारा विषय को न केवल पूर्णतः बोधगम्य बना देना अपितु स्वीकार्य, अपरिहार्य भी। इसमें वे सफल हुए हैं। कला संबंधी व्यापक लोकाभिरुचि के जागरण तथा तत्संबंधी अनेक आधुनिक विवादों के निराकरण की दिशा में, आशा है, तालस्ताय के वर्षों पूर्व व्यक्त ये विचार आज भी पर्याप्त रूप से सहायक होंगे। पुस्तक का प्रकाशन इसी उद्देश्य से प्रेरित है।

तालस्ताय के अनेक अंग्रेजी अनुवादकों में मॉड दम्पति सर्वाधिक प्रसिद्ध और प्रामाणिक हैं। उनके संबंध में स्वयं तालस्ताय की सम्मति है कि : "दोनों (अंग्रेजी

दिया : हमेशा के बदले कभी कभी, सबके बदले कुछ, गिरजे का धर्म[1] के बदले रोमन कैथलिक धर्म, 'ईश्वर की माता' के बदले मैडोना, देशभक्ति के बदले मिथ्या देशभक्ति, महलों के बदले महल संबंधी वस्तुएँ इत्यादि और मैंने विरोध करना आवश्यक न समझा। परंतु जब पुस्तक छप रही थी तब प्रतिबंधक ने आदेश दिया कि पूरे वाक्य बदल दिये जायँ और जो कुछ मैंने भूसम्पत्ति से उत्पन्न बुराइयों के विषय में कहा था उसके बदले भूमिहीन जनसाधारण के कष्टों का वर्णन कर दूँ।[2] मैंने कुछ और परिवर्तन तथा यह आदेश भी स्वीकार कर लिया। एक वाक्य के लिए पूरी बात को उलट देना अनुचित लगा और जब एक परिवर्तन स्वीकार कर लिया गया तो द्वितीय, तृतीय परिवर्तनों के विरुद्ध होना अर्थहीन मालूम पड़ा। इस प्रकार धीरे-धीरे पुस्तक मे ऐसे वाक्य आ गये जिनसे भाव-विपर्यय हो गया और मेरे मत्थे वे बातें मढ़ दी गईं जिन्हें मै कभी न कह सकता था; अतः प्रकाशित होने पर यह पुस्तक अंगतः अपना निष्ठात्मक चारित्र्य खो बैठी। परतु मुझे संतोष था कि इस पुस्तक में यदि कुछ भी महत्त्वपूर्ण है तो यह इस रूप मे भी रूसी पाठकों के लिये उपयोगी होगी, क्योंकि अन्यथा यह उन तक पहुँच ही न पाती। पर हुआ कुछ और। चार दिन की वैधानिक अवधि बीतने के बाद पुस्तक रोक दी गई और पीटर्सबर्ग से मिले आदेशों के अनुसार इसे आध्यात्मिक प्रतिबधक को दे दिया गया। तब ग्रोट ने इस मामले मे पड़ना अस्वीकार कर दिया और आध्यात्मिक प्रतिबंधक अपनी इच्छा के अनुसार ग्रंथ के साथ

---

१. चर्च धर्म से संबंधित ताल्स्ताय के शब्दों में ऐसा परिवर्तन किया गया कि मालूम पड़ने लगा कि वे केवल पश्चिमी चर्च से संबंधित हैं, और विलासितापूर्ण जीवन की जो भर्त्सना उन्होंने की उसका संबंध सम्राज्ञी विक्टोरिया या निकोलस द्वितीय से न मानकर सीजर और फ़रोआ लोगों से माना गया।

२. रूसी कृषक बहुधा ग्रामसंघ का सदस्य होता था अतः गाँव की भूमि में हिस्सा पाने का हकदार था। ताल्स्ताय ने उस समाज-व्यवस्था की निन्दा की जो पूरे जनबहुल ग्राम के भरण-पोषण के लिए बहुत कम भूमि देती थी और किसी अकेले व्यक्ति को बहुत अधिक। सेंसर ने इस व्यवस्था की भर्त्सना करने से उन्हें नहीं रोका, परंतु यह स्वीकार करने को उद्यत था कि कहीं के भी रिवाज और कानून, जैसे इंग्लैंड के, आलोचना के विषय थे क्योंकि वहाँ भूस्वामित्व का और भी उग्र रूप प्रचलित था और भूमिपर वास्तविक श्रम करनेवालों के पास प्रायः थोड़ी भी जमीन न होती थी।—ऐलमर मॉड।

खिलवाड़ किया। रूस में आध्यात्मिक प्रतिवधक की संस्था एकदम मूर्ख, अबोध, दांभिक और पैसा खानेवाली है। रूस के स्वीकृत राज्यधर्म से जो पुस्तकें रंच भी मतभेद रखती है, उन्हें पा जाने पर, पूर्णत: जला या दवा दिया जाता है, जब मैंने अपनी धार्मिक पुस्तको को रूस में प्रकाशित करने का यत्न किया तब उनके साथ यही व्यवहार हुआ। संभवत: इस पुस्तक की भी यही दशा होती यदि उक्त पत्रिका के सपादको ने इसे बचाने के सारे उद्योग न किये होते। उनके उद्योगो के फलस्वरूप आध्यात्मिक प्रतिवधक ने वह सब निकाल दिया, जो उसकी स्थिति को संकटग्रस्त बनाते और जहाँ आवश्यक समझा उन स्थलो पर अपने विचार रख दिये। यह प्रतिवधक पादरी था और कला को उतना ही समझता तथा प्रेम करता था जितना मैं चर्च की कार्यावली समझता और पसंद करता हूँ और वह केवल इसलिए अच्छा वेतन पाता था ताकि अपने उच्च अधिकारियों को अप्रसन्न करने की संभावनावाली बातो को नष्ट करे। उदाहरणार्थ जहाँ मैंने कहा है कि अपने प्रतिपादित सत्य के कारण ईसा को फाँसी मिली वृहद् सेसर प्रतिवधक ने लिख दिया कि ईसा मानवता के लिए दिवंगत हुए अर्थात् उसने मेरे मर्त्य उद्धार के मिथ्या सिद्धांत का प्रतिपादन मढ़ दिया, जिसे मैं बहुत असत्य और चर्च के अधविश्वासो मे अत्यधिक हानिकर मानता हूँ। पुस्तक मे ये सशोधन समाविष्ट करने के बाद आध्यात्मिक प्रतिबंधक ने उसके प्रकाशन की अनुमति दी।

रूस में विरोध करना असम्भव है; कोई भी समाचार-पत्र ऐसा विरोध नही छापता और पत्रिका से अपनी पुस्तक वापस लेना और जनता के सामने संपादक की स्थिति चिंत्य बनाना भी असम्भव था।

इसलिए बात होकर रही! मेरे नाम से पुस्तक प्रकाशित तो हुई पर उसमें ऐसे विचार है जो मेरे नही है।

मुझसे प्रार्थना की गई कि मैं अपने विचारों को एक रूसी पत्रिका को दे दूं ताकि वे उपयोगी हो सकें और रूसी पाठक की संपत्ति बन सकें और फल यह हुआ कि मेरा नाम एक ऐसी कृति से संबद्ध कर दिया गया है जिससे इस विभ्रम की संभावना है कि बग़ैर कारण दिये मैं जनमत के विरुद्ध बातों को स्वेच्छाचारपूर्वक प्रतिष्ठापित करता हूँ: कि मैं केवल मिथ्या देशभक्ति को बुरा समझता हूँ परन्तु देशभक्ति की सामान्य भावना को बहुत अच्छा; कि मैं केवल रोमन कैथलिक चर्च की मूर्खताओ का खडन करता हूँ और मैडोना में अविश्वास करता हूँ, परंतु कट्टर पूर्वी चर्च के सिद्धांतो में विश्वास करता हूँ और 'ईश्वर की माता' को मानता

हूं; कि मैं बाइबिल में संग्रहीत पुस्तकों को सभी धार्मिक मानता हूं और ईसा के जीवन का महत्त्व इसमें मानता हूँ कि उनकी मृत्यु से मानव जाति का उद्धार हुआ ।

मैंने ये विवरण इसलिये दिये क्योंकि ये असंदिग्ध सत्य को चमत्कारपूर्वक चरितार्थ करते हैं कि जिन संस्थाओं से आपकी अंतरात्मा का विरोध है उनसे समझौता—ऐसा समझौता जो जनहित की दृष्टि से किया जाता है—बजाय इसके कि प्रत्याशित कल्याण उत्पन्न करे अनिवार्यतया आपसे उन्ही सस्थाओ का समर्थन कराता है जिनके आप विरोधी हैं, बल्कि ऐसी सस्थाओं से उत्पन्न दोषो में आपको साझीदार भी बनाता है ।

मैं प्रसन्न हूँ कि इस वक्तव्य द्वारा उस त्रुटि का अंशत: मार्जन हो जायेगा जो समझौते के कारण मुझसे हो गई थी ।

यह भी उल्लेख कर दूं कि रूसी संस्करणों मे से प्रतिबंधक द्वारा निकाले गए अंशो को पुनः लिखने के साथ ही महत्त्व के अन्य संशोधन तथा परिवर्धन इस संस्करण मे समाविष्ट किये गये है ।

२९ मार्च, १८९८ । —लियो ताल्स्ताय

टिप्पणी :

जब प्रोफ़ेसर लियो वायनर द्वारा संपादित ताल्स्ताय के ग्रंथों का पूर्वग्राहक सस्करण १९०४ में लंदन की जी० एम० डेंट ऐंड कंपनी द्वारा अमेरिका में प्रकाशित हुआ तब ताल्स्ताय की उन लोगो से यह प्रार्थना, 'जो कला विषयक मेरे विचारो मे रुचि रखते हैं वे मेरी पुस्तक के इस रूप के आधार पर उन पर अपने निर्णय दें' अमान्य रह गई, दूसरा वक्तव्य रख दिया गया और संयोग से उस संस्करण में यह प्राक्कथन नहीं दिया गया—जो त्रुटिवश पूर्ण होने का दावा करता था ।

प्राक्कथन

टाल्स्टाय समय-समय पर अनेक विभिन्न विषयो में रुचि लेते रहे, परन्तु कला के विषय में तो वे सदैव रुचिशील बने रहे। किसी भी अन्य विषय पर इतने वर्षो पर्यन्त और इतने अधिक वक्तव्य उन्होने नही दिए। उन्ही के कथनानुसार 'कला क्या है' नामक उनके निबंधमें व्यक्त विचारो के स्पष्टीकरण में उन्हें १५ वर्ष लगे। इस विषय पर लिखे गए उनके एक दर्जन निबंधो में यह निबन्ध सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। अपनी सभी विचारात्मक (दार्शनिक) कृतियों में वे इस निबन्धको सबसे अधिक सुसम्बद्ध और सुचिंतित मानते थे।

जाति, संस्कार एवं युगकी दृष्टि से हम उनसे पृथक हैं, अतः यह आशा रखना व्यर्थ है कि विभिन्न कलाकारो, कृतियों तथा आदर्शों के प्रति उनकी प्रत्येक रुचि-अरुचि से हम सहमत होंगे; और न तो उन्होने अपने दिए हुए उदाहरणोको बहुत महत्व ही दिया है, क्योकि उनका कथन है—मेरी पहले की पड़ी हुई, पुरानी आदतें मुझसे गलती करा सकती हैं और यौवन में मुझ पर किसी कृति का जो प्रभाव पड़ा है, उसे मैं प्रपूर्ण गुण मानने का भ्रम कह सकता हूँ।'

परन्तु यह जानना रोचक होगा कि 'युद्ध और शांति,' 'तेईस कथाएँ,' और 'अन्ना कैरेनिना' के रचयिता को सामान्यतया कला की कौन-सी विवेचना तुष्ट करती थी, क्योकि वह संगीत तथा अन्य सभी कलाओं में गहरी रुचि रखने के साथ ही रूसके महत्तम नाटककारो में से भी थे।

उनकी पुस्तक के तत्वग्रहण में हम उसी पद्धति का अनुसरण करेंगे, जिसका निर्देश उन्होने एक प्रमुख प्राचीन ग्रंथपर लिखित अपने निबन्धमें किया है। इस ग्रंथ पर पर्याप्त वार्ता-विनिमय हुआ है और इसकी अनेकशः व्याख्याएँ हुई हैं। उन्होंने हमें परामर्श दिया है कि सभी पूर्व निष्कर्षों को एक ओर रख कर इसे पढ़ो; जो कुछ इसमें कहा गया है केवल उसे समझने की भावना से इसे पढो। परन्तु क्योकि यह एक महत्वपूर्ण पुस्तक है, केवल इसीलिए इसे समबुद्धि से, विवेक और अतर्दृष्टि के साथ पढ़ो, न कि अधूरेपन से अथवा मशीनवत्—मानों सभी शब्द एक ही वजन के हों।

'किसी कृतिको समझने के लिए हमें पूर्णतया स्पष्ट अंशों को तथा उन अंगों को जो कुछ गूढ़ तथा अस्पष्ट हों चुन कर अलग कर लेना चाहिए। जो अंश स्पष्ट हैं उनकी सहायता से हमें पूर्ण ग्रंथकी तत्वात्मा एवं धारा पर अपना मत वनाना चाहिए। जो कुछ हमने समझा है उसके आधार पर हमें अस्पष्ट अथवा दुर्बोध अंशों को समझने का यत्न करना चाहिए। इस प्रकार से सभी पुस्तके पढ़ी जानी चाहिए। ... समझने के लिए सर्वप्रथम हमें सरल, सुवोध तथा क्लिष्ट एवं दुर्बोध अंशोको अलग कर लेना चाहिए; तदुपरान्त इस सरल-सुवोध अंश को, पूर्णतया समझने की कोशिश करते हुए, कई वार पढ़ जाना चाहिए। तव, सामान्य अर्थ-वोध से सहायता पाने पर हम उलझनभरे तथा गूढ़ मालूम पड़नेवाले अंशों की धारा को समझने का प्रयास आरंभ कर सकते हैं। ...वहुत संभव है कि सुवोध-दुर्बोध के चयन में सव लोग उन्हीं खण्डों को न चुने, जो एक के लिए सुवोध है वह दूसरे को अस्पष्ट लग सकता है। परन्तु जो सवसे अधिक महत्वपूर्ण है उस पर सभी सहमत होंगे और ये वस्तुएं सभी को पूर्णतया समझ में आने योग्य होंगी। केवल यही—अर्थात् जो सभी मनुष्योंको पूर्णतया समझ में आता है—प्रशिक्षण का सार है।'

कला पर टाल्स्टाय के निवन्धों को इस प्रकार पढ़ने पर हम उन में से कौन-सा तत्व निकाल सकते हैं ?

प्रथम, कला पर उनकी व्याख्या है : 'वह क्रिया जिसके द्वारा एक मनुष्य एक भाव का अनुभव कर लेने पर सोद्देश्य उसे अन्यो तक पहुँचाता है।' वर्नार्ड शा का कथन है : 'यह सहज सत्य है, ज्योही यह ध्वनित होता है, इसमे वे लोग कलाकार की ध्वनि पहचान लेते हैं जो वस्तुत कलाविद् है।'

टाल्स्टाय ने एक वार वार्तालाप में मुझसे कहा था कि किसी भी महान् दर्शन का लक्षण यह है कि वह महत्वपूर्ण विचारोंकी एक वड़ी शृंखला को सामान्य वना देता है ताकि पौन घंटे के भीतर एक वारह वर्ष के वालक को वह हृदयगम कराया जा सके। हम सरलतम उदाहरणों तक ही अपने को सीमित रख कर इस कसौटी पर उनके कला-दर्शन को कसेंगे।

हवाखोरी के लिए निकला हुआ कोई वालक यदि सामने एक वैल आता देखे और भयभीत हो जाए, और यदि घर आने पर वह वताये कि वैल ने उसके सामने आते वक्त किस तरह अपना सर झुकाया और भयंकर प्रतीत हुआ और किस तरह वह स्वयं भगा, लड़खड़ाया, अपना संतुलन ठीक कर सका, एक झाड़ी पार करने

को सीढी पर चढा और बच जाने पर प्रसन्न हुआ—और यदि वह यह वृत्त इस ढग से बताए कि उसके माता-पिता भी उसकी-सी ही भावानुभूति करें और महसूस करें किस सकट से वह उबर सका है—तो उसने एक कला-कृति को जन्म दिया है। इसी तरह यदि उसने कोई भी बैल नही देखा, बल्कि केवल कल्पना की, कि यदि बैल उसके सामने आ जाय तो उसे कैसा अनुभव होगा, और तब उस अनुभूति का स्मरण करके उसने कल्पना की और कहानी इस तरह सुनाई कि उसके माता-पिता को वही अनुभूति हुई जो उसे हुई थी, तो वह भी एक कलाकृति ही है।

पुनश्च : यदि किसी जन-संकुल कमरे में चलते हुए किसी पुरुष से किसी महिला का अँगूठा दब गया और वह दर्द के मारे ऐसी चीख उठी कि उसकी भावना अन्यो तक पहुँची—तो यह कला नही है, क्योकि उसकी भावना का सचार प्रवृत्तिजन्य और तात्कालिक है और उसी क्षण तक सीमित है जिस क्षण उसने स्वय इसका अनुभव किया। परन्तु यदि वह पुरुष पुन. उसी महिला के पास से बगैर उसका अँगूठा दबाए हुए जाय, और उस महिला को यह सूझे कि वह ऐसा बहाना करे जिससे प्रगट हो कि उसका अँगूठा दबा है, और अन्यो को कष्ट की उस स्वानुभूत कल्पना मे शामिल करने के निमित्त वह उसका आह्वान करे और वाणी तथा मुद्रा से उसे व्यक्त करे, (यह बहाना करते हुए कि उस पुरुष ने उसे पुनः चोट पहुँचाई है), तो इसे कला कहा जा सकता है। यह इस पर निर्भर करेगा कि उसने अपनी वाणी और मुद्रा का प्रयोग कैसे किया है। यदि उसने इन साधनो का प्रयोग ऐसे ढग से किया है कि अन्य जन भी उसकी अनुभूति से संचरित हुए तो यह कला है, परन्तु यदि वाणी या मुद्रा उसके इरादे को पूर्णतया चरितार्थ करने में अक्षम रहे तो यह प्रयास विफल होगा और इसे कला नही कहा जाएगा।

दूसरा संकेत और भी सरल है, यह कलाकृति के रूप और अनुभव का अतर है।

सगीत की क्रिया लीजिए। टाल्स्टाय कला से सवद्ध अनेक भावनाओ में से एक के विषय में कहते हैं—

'कभी-कभी साथ रहनेवाले उन लोगो को, जो परस्पर भले ही विरुद्ध न हो पर रुचि और सस्कार से पृथक है, कभी-कभी एक कहानी, एक प्रदर्शन, एक खेल, एक भवन और सगीत तो प्रायः सदैव बिजली की गति से सवद्ध कर देता

है और अपने पुराने निरोध और द्वेष के स्थान पर वे ऐक्य तथा पारस्परिक प्रेम का अनुभव करने लग जाते है। प्रत्येक व्यक्ति इसलिए प्रसन्न है क्योंकि जो अनुभति उसे होती ह वही दूसरे को हो रही है, वह उस ऐक्य के कारण प्रसन्न है जो केवल उसके तथा वहाँ उपस्थित जनो के ही बीच नही स्थित है, बल्कि उन सबसे भी जो कही भी जीवित है तथा कभी उसी प्रभाव का अनुभव करेंगे, और इससे भी अधिक वह इस ऐक्य के उस हास्यपूर्ण आनंद में मग्न हो जाता है जो मृत्यु की सीमाओं को तोड़कर हमे अतीत के उन सभी मनुष्यो से ग्रंथित करता है जो इन्ही अनुभूतियों से संचरित हुए थे तथा भविष्य के मनुष्यों से संबद्ध करता है जो अभी इन भावों से आंदोलित होने को है।'

परन्तु कला की वे शर्तें क्या है, वह रूप क्या है, जो यह कर सकता है ? टाल्स्टाय ने रूसी चित्रकार ब्यूलोव का कथन उद्धृत किया है कि : 'कला का प्रादुर्भाव बालक के प्रादुर्भाव के साथ होता है' और कहा है कि : 'सभी कलाओ के विषय में यह कथन सत्य है, परन्तु इसकी सुसंगति संगीत के कार्यक्रम में विशेषरूपेण द्रष्टव्य है। इन तीन शर्तो का पालन होना चाहिए—वह संगीत कलात्मक हो, कला हो और प्रभविष्णु हो।' संगीत की पूर्णता के लिए अन्य भी अनेक शर्तें है : एक ध्वनि से दूसरी ध्वनि तक का संक्रमण धारावाही हो या बाधित; ध्वनि निरंतर बढ़ती या घटती रहे; वह एक ही ध्वनि में विलीन हो दूसरी में नही; ध्वनि अमुक प्रकार के ग्राम-वाली हो, तथा अन्य भी बहुत बातें—परन्तु तीन प्रमुख शर्तो को लीजिए : आरोह-अवरोह, समय, ध्वनि शक्ति। संगीत तभी कला है, तभी प्रभावक होता है जब ध्वनि उचित से अधिक न तो ऊँची न नीची, अर्थात् जब एकदम सही उचित ध्वनि-स्तर का अत्यत सूक्ष्म विन्दु ग्रहण किया गया हो; जब वह ध्वनि-स्तर केवल तभी तक चालू रखा गया हो जब तक उसकी आवश्यकता है; और जब ध्वनि-शक्ति आवश्यकता से न तो अधिक हो न कम। आरोह-अवरोह में रचमात्र भी दिशांतर, समय में लेशमात्र भी कमी या अधिकता, और आवश्यकता के विपरीत ध्वनि-शक्ति मे रंचक ह्रास या वृद्धि प्रपूर्णता को विनष्ट कर देते हैं और परिणामत: संगीत की प्रभविष्णुता को भी। संगीत-कला की मार्मिकता की भावना, जो इतनी सरल तथा सुलभ लगती है, हम तभी पाते हैं जब सगीतकार उन अति सूक्ष्म मात्राओं को पा लेता है, जो सगीत की पूर्णता के लिए अपेक्षित है। यह वात सभी कलाओ के विषय में लागू है : थोड़ा हल्का, थोड़ा गहरा, थोड़ा ऊँचा या नीचा, थोड़ा दाएँ या वाएँ—चित्रकला में; थोड़ी

शिथिल या प्रवल लयाघात, थोड़ी त्वरा या देरी—नाट्यकला में; छुटा हुआ, अतिशयोक्तिपूर्ण या अतिरेकपूर्ण सवल—काव्यकला में, बस इतने मात्र से कलाकृति में मार्मिक प्रभविष्णुता का अभाव रहेगा। प्रभावकता तव उपलव्ध होती है जब कलाकार उन अति सूक्ष्म मात्राओं को प्राप्त कर लेता है जिनसे कलाकृति वनी है, और वह उसी हद तक उपलव्ध होती है जिस हद तक वह उन मात्राओ को प्राप्त करता है। यह अत्यंत असभव है कि वाह्य उपकरणो द्वारा इन सूक्ष्म मात्राओं की प्राप्ति दिखाई जा सके; ये तो तभी प्राप्त हो सकती हैं जव कोई मनुष्य अपनी भावना के सामने आत्मार्पण कर देता है। अध्यापन से यह संभव नही कि कोई नर्तक एकदम ठीक सगीत का कौशल ग्रहण कर ले, या गायक या सारंगी-वादक एकदम ठीक से अपने ध्वनि-स्तर के अत्यंत सूक्ष्म विन्दु को पा ले, या चित्रकार सभी संभाव्य रेखाओ में से केवल सही रेखा खीच दे, या कवि केवल उचित शव्दो की उचित योजना कर दे। यह सव भावना द्वारा ग्राह्य है। अतः स्कूलो में तो केवल वही पढ़ाया जा सकता है जो कला से मिलती-जुलती कृति की उद्भावना के निमित्त आवश्यक है, न कि कला स्वयं।'

जव तक रूप उपयुक्त न होगा कोई कहानी, गीत, चित्र, मूर्ति, नृत्य, खेल, आभरण या भवन स्रष्टा की भावना का वोध दर्शक या श्रोतागण को नही करा सकता। कोई वस्तु कलाकृति है या नही, यह उसके रूप पर निर्भर है। यदि कोई भावना, चाहे वह लाभकर हो या हानिकर, अपने रूप की प्रभावकता के कारण व्याप्त होती है, तो वह कलाकृति है, और इससे इस तथ्य मे अतर नही आता कि उसका स्रष्टा सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक या नैतिक महत्वकी भावनाओ से प्रेरित हुआ था या नही।

यह एक विभ्रम है कि प्रेषणीय भावनाओ का महत्वपूर्ण होना आवश्यक नही। यह भ्रम इसलिए बढ़ा, क्योकि कुछ विशेष विचारो के प्रचार में लगे हुए कुछ लोग प्रायः वास्तविक भावना से प्रेरित नही हुए है या अभिव्यक्ति की कलात्मक शक्ति से वंचित रहे है; इसीलिए अनेक आलोचक भ्रमवश मान वैठे है कि किसी विराट आन्दोलन से संवद्ध कोई ठोस भावना कला द्वारा नही व्यक्त की जा सकती। इस प्रकार की रायो मे तथ्याश इतना ही है कि कोई भी प्रेरणा, चाहे वह कितनी ही महत्वपूर्ण अथवा उत्तम हो, वास्तविक कलाकृति की दो अनिवार्य शर्तो को अपदस्थ नही कर सकती : वास्तविक भावना और पर्याप्त (उचित) रूप।

परन्तु यद्यपि कोई भी कलाकृति विना उपयुक्त रूप के अस्तित्वहीन रहेगी, तथापि यह एक सत्य है कि ठोस कलाकृतियो के विपय में यह विचारणीय है कि वे जिन भावनाओं का वाहर प्रचार करती है उनसे मानवता लाभान्वित होनेवाली है अथवा क्षतिग्रस्त । यह टाल्स्टाय का तृतीय प्रमुख सूत्र है ।

यह विचारना व्यर्थ है, ऐसा कहना यह घोषित करने के समान है कि कला एक वद्ध कक्ष में निवास करती है और उसका मानव जीवन से कोई जीवन्त संवंध नही । परन्तु क्योकि कलाकार स्वयं एक मानव है और अपने को दो खंडो मे विभक्त नही कर सकता, इसीलिए सामान्य रूप से जो कुछ भी जीवन को उच्चतर अथवा निम्नतर वनाता है, उससे सम्वन्धित है—यदि वह उस प्रकार का विशेषज्ञ नही जिसके लिए टाल्स्टाय का कथन है : 'ये लोग अपने विशिष्ट और मूर्छाजनक पेशो की सन्निधि में वर्वर पशु की तरह विकसित होते है और एकागी तथा आत्मतुष्ट विशेषज्ञ वन जाते हैं—जीवन की सभी गंभीर हलचलों के प्रति उदासी और शीघ्रतासे अपने पाँव, जिह्वा या उँगलियो को नचाने में प्रवीण ।'

यह उनके कला सिद्धांत का अंतिम और चतुर्थ आधार है अर्थात् कला के महत्व को न्याय्य प्रमाणित करना । यदि कलामात्र वुद्धि-विलास या क्रिया विशेप मे कौशल होती तो हम इसकी तुलना विलियर्ड्स, क्रिकेट, या पेशेवर शतरंज के खेल से कर सकते । परन्तु हम इसे उचित ही कहीं अधिक महत्व देते है; क्योंकि वह वस्तु कला है जो कलाकारों द्वारा अभिव्यक्त भावनाओं के विकीर्णीकरण द्वारा मनुष्य की भावनाओं को मूर्त और विकसित करती है । और चूँकि हमारी भावनाएँ हमारे विचारो, विश्वास मे हमारी क्रियाओं और हमारे समग्र जीवन को प्रभावित करती हैं, अतः साल्टाउन के फ्लेचर द्वारा उद्धृत इस कथन मे पर्याप्त सार है कि : 'यदि किसी मनुष्य को सव चारण गीतो की रचना की अनुमति मिल जाय तो उसे इस वात की चिंता न रहेगी कि राष्ट्र का विधान कौन वनाए ।' (चारण गीत–वैलेड Ballad—में, फ्लेचर के समय में सभी संगीत, काव्य तथा समग्र कला का समावेश था ।) क्योकि तव वास्तव में विधान शास्त्री कलाकार के हाथ मे मोम-सा रहेगा ।

इसीलिए 'कला, जीवन और मनुष्य जाति की प्रगति के लिए विज्ञान के समान ही एक महत्वपूर्ण उपकरण है ।

टाल्स्टाय के समक्ष कलाकृति के रूप का—जिस पर इसकी प्रभावक

शक्तियाँ निर्भर है—कला द्वारा वहन की गई भावनाओं से पृथक्करण की आवश्यकता इतनी प्रत्यक्ष थी कि यद्यपि उन्होंने इसे अभिव्यक्त कर दिया तथापि न तो उन्होने इस पर विशेष वल दिया न आग्रह किया, वरन् प्रसंगोपात होने से उल्लेखमात्र कर दिया। कुछ पाठको ने इस अनिवार्य वात को विस्मृत कर दिया है और ताकि कोई इस भ्रम मे न रहे कि इसका आविष्कर्ता मैं हूँ, (यदि मुझे अधिकार होता तो मैं इस वक्तव्य को सहर्ष अपना ही घोषित करता), मैं उन खण्डों की ओर ध्यान आकर्षित करूँगा जिनमें टाल्स्टाय ने इसका वर्णन किया है।'

वारहवें अध्याय मे वह कहते है: 'प्रभावकता केवल तभी उपलब्ध होती है, जब कलाकार उन अति सूक्ष्म मात्राओं को प्राप्त कर लेता है जिनसे कलाकृति वनी है, और वह उसी हद तक उपलब्ध होती है जिस हद तक वह उन मात्राओ को प्राप्त करता है।'

चौदहवें अध्याय में वह कहते है—'यदि कोई व्यक्ति लेखक की आत्मा की दशा से तादात्म्य प्राप्त कर लेता है, यदि वह इस भावना और ऐक्य को अन्यों के साथ महसूस करता है, तब जिस वस्तु ने यह प्रतिफलित किया, वह कला है........ और न केवल तादात्म्य ही कला का अमोघ लक्षण है वल्कि तादात्म्य की मात्रा भी कला की उत्तमता की कसौटी है।

'यदि हम इसके वस्तु तत्व का ख्याल न करें और इसके द्वारा प्रेषित भावनाओं की श्रेष्ठता का विचार न करें, तो हम कह सकते है कि तादात्म्य जितना सवल होगा उतनी ही श्रेष्ठतर कला होगी।'

इन खण्डो को समग्र रूपसे पढ़ने पर यह वक्तव्य स्पष्ट हो जाता है कि रूप की श्रेष्ठता ही कलाकृति निर्माण करती है, और उसी पर इसकी भावनाओं को प्रेषित करने की शक्ति निर्भर है। टाल्स्टाय ने इस दावे को उस अध्याय से पृथक अध्याय मे पेश किया है, जिसमें कला के वस्तु-तत्व का विवेचन है, जिसमें कला द्वारा वहन की गई भावनाओ की श्रेष्ठता अथवा अन्यथा की चर्चा है। उनका तर्क है, मनुष्य जीवन को उन्नत करनेवाली भावनाएँ उन भावनाओ की अपेक्षा स्पृहणीय है जो जीवन को अधोमुख करती है और यदि हम विश्व प्रगति के आकांक्षी हैं तो उन भावनाओ को प्रोत्साहित करना हमारा कर्त्तव्य है।

टाल्स्टाय की अंतर्दृष्टि की कल्पना प्रत्यक्षतः 'ग्रे' ने की थी, क्योंकि उनके अनुसार कला 'गर्व और ऐश्वर्य के मन्दिर को सरस्वती की ज्वाला में दीप्त अगुरु-पुञ्ज से भर सकती है।'

जिन विचारों को फ्लेचर और ग्रे ने पहले व्यक्त किया था, उन्ही को टाल्स्टाय ने समन्वित किया, विशद किया, और स्पष्ट किया और उन्होंने विचारों का संकलन इस प्रकार किया है कि साहित्य में प्रथम वार एक तर्काधृत, विश्वसनीय एवं पूर्ण सिद्धांत उपस्थित हो गया, जिससे कला का संबंध—अन्य मानवी क्रिया-कलाप से और सामान्य जीवन से—समझ में आ जाता है। यह वताना आवश्यक है कि जब टाल्स्टाय कहते है कि एक कलाकार 'जिन भावनाओ के वीच रह चुका है उन्हें अन्यों को हस्तान्तरित करता है' तो वस्तुतः वे इसमें विश्वास करते हैं। यदि 'भावनाओं' शब्द की व्याख्या अपेक्षित है तो वह उनकी कला की परिभाषा के ठीक पहले के पैराग्राफ में प्राप्य है जहाँ कहा गया है: 'जिन भावनाओं से कलाकार अन्यों को प्रभावित करता है वे अनेक प्रकार की है—वहुत सवल अथवा वहुत दुर्बल, वहुत महत्वपूर्ण या एकदम तुच्छ, वहुत वुरी या वहुत अच्छी: देश-प्रेम की भावनाएँ, नाटक में वर्णित आत्मासक्ति और भाग्य एवं ईश्वर के प्रति समर्पण, उपन्यास में वर्णित प्रेमियों के उल्लास, चित्र में वर्णित कामासक्ति, विजय-सैन्य प्रयाण में वर्णित साहस, नृत्य द्वारा उत्थित आनंद, एक हास्यकथा द्वारा उद्भूत विनोद, एक संध्याकालीन दृश्य या लोरी गीत द्वारा प्रदत्त शांति की भावना, या एक सुन्दर तंत्र-क्रिया द्वारा जनित आशंसा की भावना—यह सव कला है।'

इस प्राक्कथन को लिखते समय मैंने श्री ह्यू ऐंसन फॉसेट की एक किताव खोल रखी थी, जिसमें कला संबंधी टाल्स्टाय के विचारो पर विमर्शार्थ ३० पृष्ठ खपाए गए है और मैंने इसमें एक असाधारण वक्तव्य पाया है कि टाल्स्टाय 'भावना' की परिभाषा करने का प्रयत्न इस वाक्यांश से करते है: 'उनकी धार्मिक अंतर्दृष्टि से निस्सृत।' प्रत्येक पाठक स्वयं देख लेगा कि वे शब्द एक परवर्ती पृष्ठ से लिये गए है। वहाँ टाल्स्टाय कला की परिभाषा विल्कुल नही कर रहे है वल्कि कह रहे है कि लोगो ने कला की उस क्रिया को सदैव विशेष महत्व दिया है, जो 'उनकी धार्मिक अंतःदृष्टि से निस्सृत है।' इससे उन लोगों को संशयग्रस्त होने की आवश्यकता नही जो इस सिद्धांत को उसी रूप में स्वीकार करते हैं

जिसमें टाल्स्टाय ने इसका विवेचन किया है न कि जिस रूप में आलोचक ने इसकी व्याख्या की है।

उन्नीसवी शती के अंत में पुस्तक लिखते समय टाल्स्टाय कला की धारा समझने के परे कितनी दूर तक गए इसका सकेत इस तथ्य से प्राप्त होता है, कि इसके प्रथम समालोचक उनकी विवेचना समझने मे एकदम असमर्थ रहे, और अब भी इतने वर्षो वाद हमारे कुछ योग्य समीक्षक—एक उदाहरण अभी ही दिया जा चुका है—यह समझने मे असमर्थ है कि टाल्स्टाय ने जो कुछ स्पप्ट और सबलता से कहा है वह उसी में विश्वास करते थे, और अब भी जो टाल्स्टाय के मत्थे युक्तिहीन सिद्धांत मढते हैं, मानों जब टाल्स्टाय ने अपने सुपरिचित विषय पर वक्तव्य दिये, उस समय वे अर्द्धनपुसक हो गए थे और उनकी वकवास का संशोधन करने की आलोचको मे पूर्ण योग्यता है। यह रुख उस रूसी कहावत की याद दिला देता है जिसमें 'वीमार लोग स्वस्थ मनुष्यो को विस्तर पर पड़े रहने की सल्लाह देते हैं।' ज्यो-ज्यों वर्ष बीतते जाते हैं, टाल्स्टाय का यह ग्रंथ अधिकाधिक समझा जा रहा है, समीक्षकों द्वारा उत्पन्न किया गया भ्रम-जाल तिरोहित होता जाता है, सम्बन्धित तथ्य एवं समुदाय श्रेष्ठतर अनुपात में देखे जा रहे हैं और मानव जीवन मे कला द्वारा अभिनीत भूमिका को समझने का मूल्य अधिकाधिक स्वीकृत होता जा रहा है।

कला और जीवन की अंतरक्रिया का प्रश्न निस्सन्देह सश्लिप्ट है और जब टाल्स्टाय के से सुदृढ विश्वासोंवाला व्यक्ति कुछ भावनाओं के प्रति अपना राग-विराग प्रकट करता है—उदाहरणर्थं शातिवाद या सैन्यवाद के अनुकूल भावनाओ के प्रति—तव अवश्यमेव वे व्यक्ति उसका विरोध करेंगे, जिनकी भावनाएँ उसकी भावनाओ के विपरीत है, और इसलिए, यदि कला का पूर्वोल्लिखित सिद्धान्त सम्यक रूपेण हृदयगम न किया गया, तो लोग समझेंगे कि उनका मतभेद कला के विषय मे है जब कि वस्तुतः यह मतभेद आचार-शास्त्र के विषय में है।

यह निश्चित है कि अपने मत में गहरी निप्ठा रखनेवाला एक रोमन कैथलिक, एक इवैंजेलिकल, एक एकात्मक शासनवादी, एक नास्तिक, अथवा काम, मद्य, रणचण्डी, कुवेर, हाथी और नर-वलि के अभिलाषी देवता का पूजक एक ही सी भावनाओ का समर्थन नही कर सकता; परन्तु जो भी भावनाएँ

मनुष्यों के पास है, उन्हे कलात्मक अभिव्यक्ति द्वारा सबल अथवा दुर्बल किया जा सकता है ।

बुद्धिमत्तापूर्वक विचार करने के लिये आवश्यक है कि हम दोनो संश्लिष्ट समस्याओं को पृथक कर लें, और प्रत्येक का विचार क्रमश. करें। हमे यह ध्यान रखना चाहिए कि नैतिक आदर्शो का महत्व कला के स्वभाव और प्रभाव को समझने में बाधक न बने ।

नैतिक आदर्शो को कला की राह मे सबसे बड़ा अवरोध इतने अधिक समय से माना जाता रहा कि यह तथ्य शीघ्र नही समझा जाता (विशेष कर उनके द्वारा, जो मात्र आनंदोपभोग के निमित्त कला का ध्यान कर लेते हैं) कि कला किसी भी प्रकार की भावना को गतिशील कर सकती है, और इसलिए अपने को किसी धार्मिक-अधार्मिक विचारधारा से संबद्ध कर सकती है । शुद्धिवादी (Puritans) कला से इसलिए घृणा करते थे, क्योकि वे जानते थे कि गिरजाघरों और पूजास्थलों के सौदर्य एवं सगीत उस प्रतिष्ठित धर्म को बनाए रखने में सहायक हुए हैं जिसके वे विरोधी हैं और इसीलिए उन्होंने तत्परतापूर्वक गिरजाघरों की मूर्तियों की नाकें काट डाली। यह समझने मे उन्हें बहुत समय लगा कि वक्तृत्व मे, व्यग्य मे, गद्य मे, पद्य मे, भजनो मे कला उन्हे अमूल्य सहायता दे सकती है। कला के ही द्वारा कला के प्रभाव का सफलतापूर्वक सामना किया जा सकता है, और टाल्स्टाय के सिद्धान्त मे ऐसा कुछ भी नही है जिसे अस्वीकार करना किसी विवेकशील व्यक्ति के लिये जरूरी हो, भले ही टाल्स्टाय के आचार-शास्त्र से तथा उन उदाहरणो से वह सहमत हो या असहमत जो उसने कलाकृतियो से दिये हैं जिन्हे वह श्रेष्ठ समझता है। इन कलाकृतियो के 'वस्तु तत्व' को, अर्थात् प्रेषित भावनाओ की प्रकार-श्रेष्ठता को उसने अच्छा समझा है ।

यहां मैंने 'कला क्या है' पर अपने विचार व्यक्त किए है, क्योकि अब तक इस विषय पर टाल्स्टाय द्वारा लिखित सामग्री में यह निबंध सर्वाधिक महत्व का एवं पूर्ण है। अन्य निबध तो प्रमुखतः इसलिए मूल्यवान् है क्योकि या तो वे प्रतिपादित सिद्धांत को समझने के प्राथमिक सोपान हैं अथवा उसके पूरक प्रयोग।

'स्कूलो के छात्र और कला' में उस अनुभव की झाँकी मिलती है, जिसके कारण टाल्स्टाय यह जान सके कि कृषक बालक कला को समझ सकते है, और यदि उनके पथ से यान्त्रिक बाधाएँ दूर कर दी जायँ तो वे स्वयं कला की सृष्टि

कर सकते है—जैसा कि उनमे से कुछ के द्वारा लिखी गई कहानियो द्वारा प्रमाणित है; इसी से उन्हे यह भी विश्वास हो गया कि कलात्मक वोध की पहली शर्त है 'उस सरल भावना से सपन्न होना जिससे सामान्य जन और वालक भी सुपरिचित है, दूसरो की भावना से ऐक्य की चेतना जो हमे दूसरो के सुख में सुखी और दु:ख में दु:खी होने को, अन्यो से अपनी आत्मा का विलीनीकरण करने को विवश कर देती है—यही कला का सार है।' इसीलिए उनका दावा है कि कृषक वालक, यहाँ तक कि जगली असभ्य भी कला के प्रभाव के प्रति सवेदनशील होते हैं, जव कि एक सुरुचिसम्पन्न सुशिक्षित व्यक्ति, जो उस सरल भावना से हीन है, कला से अप्रभावित रह सकता है।

'कला मे सत्य' वालको के लिए इस तथ्य का सरल विवेचन है कि एक कल्पित अथवा असत्य कहानी कला की दृष्टि से सत्य हो सकती है और एक वास्तविक भावना की वाहिका वन सकती है ।

'कला क्या है' से दो वर्ष पूर्व लिखित 'कला', टाल्स्टाय द्वारा समस्या के स्पष्टीकरण में प्रगति के क्रमका सूचक है । इसके वाद ही उन्हें उपलब्धि हुई थी । इसमें का अधिकांश परीक्षण के मानदण्ड तक पहुँचता है, परन्तु इसमे कुछ ऐसी भी स्थापनाएँ है जिन्हें वाद में टाल्स्टाय ने तिरस्कृत कर दिया । अतः यह अधिक रूखा, अधिक वौद्धिक विवेचन होने कारण कम रोचक है । जिस प्रकार लेखक ने 'कला क्या है' में स्वतन्त्र विचारणा प्रस्तुत की है और आकर्पक ढंग से अपनी वैयक्तिक भक्ति-विरक्ति का समावेश किया है उस प्रकार की रंजकता इस लेख में नही है ।

'कला क्या है' मे टाल्स्टाय का प्राक्कथन, रूसी शासन द्वारा उनकी रचना के अंग-भग के विरोध में प्रवल प्रतिवाद है, परन्तु प्रकारान्तर से सयोगवश यह एक वड़े लेखक द्वारा अपनी भाषा मे प्रकाशित मूलरचना की अपेक्षा अनुवाद को वरीयता देने का अनुपम उदाहरण है ।

कापीराइट न होने के कारण टाल्स्टाय की रचनाओ के लिए प्रकाशको मे भारी खीचातानी रही है । परिणामत. उनमें से ४६ ने इङ्गलेंड या अमेरिका में उनकी एक या अधिक रचना प्रकाशित की और पाठको तथा पुस्तक विक्रेताओ के लिए यह वड़ा कठिन हो गया कि किन सस्करणो को वे विश्वसनीय माने । इस प्राक्कथन मे दिया हुआ टाल्स्टाय सकेत 'विश्व की विशिष्ट ग्रंथमाला' मे प्रकाशित होनेवाले अनुवाद को व्यापक स्वीकृति दिलाने में सहायक हुआ है ।

केवल इतना और कहना वाकी है कि—'कला क्या है' में उल्लिखित ६ चित्र, 'कला पर टाल्स्टाय' के विचार में भी दिए गए है और इस प्राक्कथन में 'कला क्या है के विषय में कहा गया अधिकांश पहले एक लेख में छप चुका है, जो संगीत प्रधान मासिक 'दि सैकवट' में प्रकाशित हुआ था और यहाँ उसकी संपादिका कुमारी उर्सु ला विल की कृपापूर्ण अनुमति से पुनः अवतरित किया गया है। टाल्स्टाय पर सगीत के प्रभाव और एतत्संवंधी उसकी विशेष रुचि-अरुचि के संवध में हम इस विषय पर उनके ज्येष्ठ पुत्र द्वारा लिखित 'टाल्स्टाय के पारिवारिक विचार' मे समाविष्ट लेख में पढ़ सकते है।

ग्रेट बैडो,
चेम्सफोर्ड ।

ऐलमर मॉड

कला क्या है

छात्र और कला

[अपने यास्नाया पोल्याना स्थित स्कूल के कुछ लड़कों के साथ टाल्स्टाय की बातों का यह विवरण प्रदर्शित करता है कि एक दशवर्षीय कृषक बालक के यह पूछने पर कि 'कला क्या है' उन्होंने क्या समाधान प्रस्तुत किया था। उन्हें तब प्रतीत हुआ कि उपयोगिता, नमनीयता और नैतिक सौंद के विषय में हमने वह सब कह डाला था जो कुछ भी कहा जा सकता था; परन्तु संतोषजनक रीति से 'कला क्या है' में पूर्ण समस्या का स्पष्टीकरण वे ३७ वर्ष बाद कर सके।]

कक्षाएँ साधारणतः ८ या ९ बजे समाप्त हो जाती है (बढ़ईगीरी कक्षा के बड़े विद्यार्थी भले ही कुछ अधिक देर रुक जाते हो), और छात्रों का समुदाय शोर करता हुआ, एक दूसरे को पुकारता हुआ दौड़ता हुआ, गांव के विभिन्न भागो की ओर चल पड़ता है। कभी-कभी वे फाटक के बाहर खड़ी हुई बर्फ की गाड़ी ले लेते हैं और उसी में पहाड़ी के नीचे-नीचे गांव तक आते हैं। वे गाड़ी कस लेते हैं, उसमें बैठ जाते हैं, और शोर करते हुए, तथा अपने रास्ते में इधर-उधर गिर जानेवाले बच्चों की काली टुकड़ी छोड़ते हुए, बर्फ के बादलों से घिर कर दृष्टि से ओझल हो जाते हैं। मुक्त वायु में, स्कूल के बाहर (भले ही उसमें पूर्ण स्वतत्रता हो), शिक्षक और छात्रके बीच नए सबंध स्थापित होते हैं: स्वच्छन्द, सरल और अधिक विश्वसनीय—ठीक वे ही संबध जो हमें आदर्श प्रतीत होते हैं और जिनकी प्राप्ति के लिए स्कूलो को यत्नवान रहना चाहिए।

कुछ ही समय पहले सर्वोच्च कक्षा में हमने गोगोल की 'वाई' नामक कहानी पढ़ी थी। ('वाई' पृथ्वी की प्रेतात्मा है और गोगोलकी कहानी भयंकर है)। अंतिम दृश्यों ने उन्हें बहुत प्रभावित किया और उनकी कल्पनाको जगाया। उनमे से कुछ लोग डाइन बने और अंतिम अध्यायो को दुहराते रहे...... ।

वाहर, मेघाच्छादित आकाश में शीतकाल की यह चन्द्रहीन रात ठंडी न थी। हम एक चौराहे पर रुके। तृतीय वर्ष के वड़े छात्र मेरे पास रुक गए और मुझसे प्रार्थनापूर्वक कुछ और दूर साथ चलने को कहने लगे। छोटे लड़के हमें देखते रहे और पहाड़ी के नीचे भाग गए। उन्होने नये शिक्षक से पढ़ना प्रारंभ किया था, और मेरे तथा उनके वीच वही विश्वास न था जो मेरे और वड़े छात्रों के वीच था।

उनमें से एक का प्रस्ताव हुआ कि हम घर से १२० गज दूरी पर एक छोटे-से जंगल मे चलें। सबसे अधिक अनुरोध फेडका ने किया। वह १० वर्ष का था तथा कोमल, ग्रहणशील, कवित्वमय एवं साहसी प्रकृति का था। खतरा तो उसे आनंद का प्रमुख स्रोत मालूम पडता था। ग्रीष्ममे मैं यह देखकर सदा डर जाता था कि कैसे वह दो अन्य लड़को के साथ १२० गज चौड़े तालाब के ठीक बीच तक तैर कर चला जाता और ग्रीष्म-सूर्य की उत्तापपूर्ण छाया मे गायव होकर पानी के नीचे तैरता रहता; और फिर वह कैसे पीठ के वल हो जाता और पानी के झरने वनाता हुआ अपनी ऊँची आवाज से किनारे पर के अपने मित्रों से यह कहता कि देखो मै कितना चमत्कारी हूँ।

वह जानता था कि जंगल में भेड़िए रहते है, इसीलिए वहाँ जाना चाहता था। सभी सहमत हो गये और हममें से चार व्यक्ति जंगल चले गए। बारह वर्ष का एक दूसरा लड़का, जो शरीर और मन से अधिक वलवान था और जिसे मैं सेमका कहूँगा, आगे की ओर वढ़ा और अपनी गूजती आवाज में दूर के किसी व्यक्ति को पुकारता रहा। वीमार-सा, कोमल, एक गरीव परिवार का प्रतिभावान् लड़का प्रोंका मेरे वगल मे चल रहा था। (वह प्रमुखतया भोजन के अभाव में ही सम्भवतः बीमार लग रहा था)। फेडका मेरे और सेमका के वीच विशिष्ट रूपसे कोमल वाणी में वात करता चल रहा था। कभी वह वताता कि किस तरह उसने ग्रीष्म में घोड़ो को वाँधा था, कभी कहता कि डरने की कोई वात नही है, और कभी पूछता 'यदि कोई कूद जाय तो?' और आग्रह करता कि मै कुछ उत्तर दूं। हम जंगलोंमें नही गए यह वहुत विपत्तिजनक होता; जहाँ हम थे, जंगलके समीप अंधेरा था और सड़क मुश्किल से दीखती थी और गाँव की रोशनी दृष्टि से छिपी हुई थी। सेमका रुका और सुनने लगा—'तुम सव रुक जाओ। यह क्या है?' उसने एकाएक कहा।

हम चुप थे और यद्यपि हमने कुछ नही सुना तथापि ऐसा प्रतीत होता था कि भयंकरता बढ़ती जा रही है।

'यदि वह निकल पड़ा और हम पर झपटा तो हम क्या करेंगे ?' फेडका ने पूछा।

हम काकेशी डाकुओं के विषय मे बातें करने लगे। मेरी बहुत पहल की सुनाई हुई एक कहानी उन्हें याद आ गई, और फिर मैंने उन्हे 'वीरों', कासकों तथा हाजी मुराद* के विषय में बताया। अपने बडे जूतों मे साहसके साथ चलता हुआ और अपनी चौड़ी पीठ निरंतर झुमाता हुआ सेमका सामने बढ़ता जा रहा था। प्रोंका मेरे बगल में चलने की कोशिश करता, परन्तु फेडका उसे मार्ग से ढकेल देता और प्रोंका—जो शायद अपनी निर्धनतों के कारण सदैव दवा करता था—बरफ में घुटनो तक भीगता हुआ सर्वाधिक सुन्दर जगहों के किनारे-किनारे दौडता जाता था।

रूस के कृषक बालकों के विषय में जो व्यक्ति कुछ भी जानता होगा उसे मालूम है कि वे सहलाना, स्नेहपूर्ण शब्द, चुम्बन, हाथ का स्पर्श नहीं सह सकते, वे इन सब चीजो से अभ्यस्त ही नही हैं। मैंने देखा है कि एक महिला ने एक बच्चे को प्यार करने के लिए बुलाया और कहा कि मैं तुम्हें चूमूंगी और वस्तुत: उसने उसे चूम लिया; परन्तु बच्चा लज्जित और हतप्रभ हो गया और अपने प्रति ऐसे व्यवहार का कारण न समझ सका। वर्ष से अधिक के बच्चे इन प्रीति-प्रदर्शनो से ऊपर उठ चुके हैं—वे अब बच्चे नही। अत. मैं बहुत आश्चर्यान्वित हुआ जब मेरे बगल चलते हुए फेडका ने कहानी के भीषणतम भाग पर सहसा बड़ी कोमलता से अपनी बाँह से मेरा स्पर्श किया, फिर मेरी उँगलियाँ उसने पकड़ ली और उन्हें पकड़े रहा। ज्यो ही मैंने बोलना बंद किया, फेडका ने इच्छा प्रकट की कि मैं बोलता जाऊँ और उसने इतनी कातर और अनुनयभरी वाणी में अनुरोध किया कि उसकी इच्छा का उल्लंघन करना मेरे लिए असम्भव था।

'अब रास्ते में मत आना'—उसने प्रोंका से सक्रोध कहा, क्योकि वह हम लोगो के सामने दौड आया था। क्रूरता की सीमा तक वह विचारो में

* पहाड़ी जातियो का एक दुस्साहसी नेता जो उस समय कुख्यात था जब टाल्स्टाय काकेशस में सजा भुगत रहे थे।

खो गया; मेरी उँगलियाँ पकड़े हुए वह इतना अशांत और प्रसन्न था कि किसी को उसके आनन्द में बाधक बनने का साहस न था।

'और! और! बहुत सुन्दर!' उसने कहा।

हम लोग जंगल के पास से गुजर चुके थे और दूसरे छोर से गाँव के समीप पहुँच रहे थे।

जब रोशनी नजर आने लगी, तब सब लड़कों ने कहा 'हमें और चलना चाहिए।'

'अब हमें दूसरी ओर मुड़ना चाहिए।'

हम शांतिपूर्वक बढ़ते रहे—यत्र-तत्र हम बरफ में डूब जाते थे, क्योंकि अधिक जन-संचरण के अभाव मे वह कठोर नही हो पाया था। एक श्वेत अंधकार (आवरण) हमारी आँखों के सामने झूल रहा था; और बादल इस तरह लटक रहे थे मानों किसी ने उन्हें हम पर लाद दिया हो। उस सफेदी का कहीं अंत न था जिसके बीच केवल हमी बर्फ के किनारे-किनारे चुर-मुर कर रहे थे। पापली वृक्ष के नगे शिखरों के बीच वायु सन्-सन् कर रही थी, परन्तु जंगल के पीछे, जहाँ हम थे, शांति थी।

मैंने अपनी कहानी यह बताकर समाप्त की कि कैसे दुश्मनो से घिरा हुआ एक बहादुर अपना मृत्यु गीत गाकर अपनी तलवार पर कूद पड़ा। सबलोग शांत थे।

सेमका ने पूछा—'जब वह चतुर्दिक घिरा था तब गीत क्यों गा रहा था?'

क्षुब्ध फेडका ने कहा—'तुम्हें बताया नही गया? वह अपनी मृत्यु की तैयारी कर रहा था।'

प्रोंका ने कहा—'मैं समझता हूँ उसने प्रार्थना कही होगी।'

सभी इस पर सहमत हो गए। एकाएक फेडका रुक गया।

उसने पूछा—'कैसे आपकी चाची ने अपना गला काट डाला? बताइए।' (उसे अभी पर्याप्त भयोत्तेजकता नही हुई थी।)

मैंने उन्हें फिर काउन्टेस टाल्स्टाय के कत्ल की दारुण कथा सुनाई, और वे मेरा चेहरा देखते हुए चुप खड़े रहे।

'और वह बदमाश पकड़ा गया।' सेमका ने कहा।

फेडका ने कहा—'रात में भागने से वह डरता था जब कि वह मरी हुई पड़ी थी। मैं तो भाग जाता!' और उसने अपने हाथ मे मेरी दोनों उँगलियाँ और जोर से पकड़ ली।

हम गाँव की सीमा पर खलिहान के आगे की झाड़ी में रुक गए। सेमका ने एक सूखी डंडी बर्फ मे से उठा ली और नीवू के एक पेड़ की बर्फीली शाखा पर मारने लगा। श्वेत बर्फ शाखाओ पर से हमारी टोपियों पर गिरने लगी, और प्रहार का शब्द वन की शाति में गूंजने लगा।

फेदका ने मुझसे कहा—'ल्यू निकोलेविच, कोई गाना क्यो सीखता है ? मै कभी-कभी सोचता हूँ कि वस्तुत. लोग गाना क्यों सीखते है !' (मैंने सोचा कि शायद फिर वह काउन्टेस ताल्स्ताय के विषय में बोलेगा।)*

यह तो ईश्वर ही जाने कि कैसे कत्ल की भीषणता से कूद कर वह प्रश्न पर आ गया; तथापि उसकी वाणी के प्रकार से, जिस गंभीरता से वह उत्तर माँग रहा था उससे, और अन्य दो की उत्सुक शांति से यही महसूस होता था कि प्रश्न से और पूर्ववर्ती वार्ता से कोई जीवन्त और वैध सम्बन्ध था। चाहे मेरे इस सुझाव की स्वीकृति मे यह संबंध सन्निहित रहा हो कि लोग अशिक्षावश अपराध करते हैं, चाहे कातिल से मानसिक तादात्म्य स्थापित करके और अपने प्रिय पेशे का स्मरण करके—(उसकी आवाज आश्चर्यजनक थी और उसे संगीत की प्रतिभा प्राप्त थी) वह अपनी परीक्षा कर रहा हो, और चाहे यह संबंध इस तथ्य मे सन्निहित रहा हो कि वह समझता हो कि गभीर वार्ता का समय अब आया है—और सभी उत्तरापेक्षी समस्याएँ उसके दिमाग में उठ पडी हो—कुछ भी हो उसके प्रश्न से हममे से कोई भी चौंका नही।

यह न जानते हुए भी कि उसे कैसे बताऊँ कि कला का क्या प्रयोजन है, मैंने कहा—'चित्र खीचने का क्या प्रयोजन है ? क्यो अच्छा लिखना चाहिए ?'

उसने विचारपूर्वक दुहराया—'चित्र खीचने का क्या प्रयोजन है ?' वह वस्तुतः पूछ रहा था, कला का क्या प्रयोजन है ? और मैं न तो समर्थ था न इतना साहससम्पन्न कि इसका स्पष्टीकरण कर सकता। सेमका ने कहा—'चित्र खीचने का क्या उद्देश्य है ? आप कोई चित्र क्यो बनाते हैं और पुन: उस चित्र से नया चित्र बना सकते है ?'

फेदका ने कहा—'नही, इसे नकशा बनाना कहते हैं, पर शक्लें क्यो बनाई जाती है ?'

---

* ताल्स्ताय के निबन्ध 'लोग अपने को मूर्ख बनाते है ?' में इस कत्ल के कुछ विवरण दिए गए है।

ठीक वीचोवीच एक पालना लटक रहा था। प्रोंका का भाई, जो द्वितीय कक्षा का गणितज्ञ था, मेज पर खड़ा, नमक लगा कर आलू खा रहा था। झोपड़ी काली, छोटी तथा गंदी थी।

प्रोका की मां चिल्लाई—'तुम कितने शैतान हो! कहां थे अव तक?'

प्रोका ने एक दव्वू, वीमार-सी मुस्कान के साथ खिड़की में झाँका। उसकी माँ समझ गई कि वह अकेला नही आया था और तत्काल उसकी मुख मुद्रा ने ऐसा वनावटी भाव धारण कर लिया जो अशोभन लगता था।

केवल फेदका वच रहा।

उस संध्या में प्राप्त कोमल आवाज मे उसने कहा—'यात्रा करनेवाले दर्जी हमारे घर आए है, इसीलिये वहाँ प्रकाश है। ल्यू निकोलेविच, प्रणाम!' और वंद दरवाजे पर लगे छल्ले को वजाने लगा। 'मुझे अन्दर आने दो!'—उसकी ऊँची आवाज गाँव की शीतकालीन शान्ति मे गूँज उठी। वहुत देर वाद दरवाजा खुला। मैंने खिड़की पर देखा। झोपड़ी वड़ी थी। पिता एक दर्जी के साथ ताश खेल रहा था और कुछ ताँवे के सिक्के मेज पर पड़े थे। पत्नी, फेदका की विमाता, पैसों की ओर उत्सुकता से देखती हुई मशाल-स्तभ के समीप वैठी थी। जवान दर्जी जो कि चालाक पियक्कड़ था, अपने पत्ते मेज पर रखकर उन्हें झुकाता और विजयोल्लासपूर्वक विरोधी की ओर देख रहा था। फेदका के वाप की कमीज का कालर खुला था, उसकी वरौनियो मे श्रम और चिंता के कारण वल पड़ता था, और वह एक के वदले दूसरा कार्ड ले-दे रहा था और हैरानी मे उनके ऊपर वह अपना सींग-सा हाथ हिलाता था।

'मुझे अंदर आने दो!'

औरत उठी और दरवाजे तक गई।

एक वार फिर फेदका ने दुहराया—'प्रणाम! हम हमेशा ऐसी हवाखोरी के लिए निकला करेंगे।'

उस वक्त हम लोगों ने जो कुछ कहा था उसकी पुनरावृत्ति करना कुछ विचित्र लगता है, परन्तु मुझे प्रतीत होता है कि हम लोगों ने उपयोगिता, नमनीयता और नैतिक सुन्दरता के विषय में वह सब कहा जो कहा जा सकता है।

हम लोग गाँव की ओर बढते रहे। फेदका अब भी मेरे हाथ पकड़े हुए था, मुझे ऐसा लगा जैसे आभारी होकर उसने मेरा हाथ पकड़ रक्खा था। उस रात हम लोग एक दूसरे के इतने समीप थे जितना इसके पहले बहुत दिनो तक कभी समीप न हुए थे। प्रोका गाँव की चौड़ी गली पर हम लोगों के बगल में चल रहा था।

उसने कहा—'देखो, मैंसानोव के घर अब भी एक रोशनी है। आज सुबह जब मै स्कूल जा रहा था गैंवरूका शराब पीकर सराय से आ रहा था। उसका घोड़ा झाग फेंक रहा था और वह उसे पीट रहा था। मैं ऐसी बातों पर हमेशा दुखी हो जाता हूँ। सचमुच, उसे क्यों मार खानी चाहिए?'

सेमका ने कहा—'एक दिन तुला से आते हुए पिताजी ने अपने घोड़ो की रास कसी और वह उन्हे एक बर्फीली आड़ में ले गया। वहाँ खूब पीकर वे सोए पड़े रहे।'

प्रोका ने दुहराया—'गैंवरूका अपने घोड़े की आँख पर मारता रहा, मुझे बहुत दुःख हुआ। वह क्यो मारता है? वह उतर पड़ा और उसपर कोड़े बरसाने लगा।'

सहसा सेमका रुक गया।

उसने अपनी भद्दी गंदी झोपड़ी के भीतर देखकर कहा—'परिवार के सब लोग सो गए है। कुछ देर और आप लोग नही घूमेंगे?'

'नही।'

'ल्यू निकोलेविच, विदा!' उसने सहसा चिल्लाकर कहा और हम लोगों से अपने को अलग करते हुए वह अपने घर की ओर दौड़ा, सिटकनी हटाई और विलुप्त हो गया।

फेदका ने कहा—'तो आप हममें से क्रमशः हर एक को घर तक पहुँचाएँगे?'

हम चलते रहे। प्रोका की झोपड़ी में एक दीप जल रहा था और हमने खिड़की पर देखा। काली आँखों और बरौनियो वाली उसकी माँ, जो लंबी और सुन्दर परन्तु श्रमजर्जर थी, मेज पर बैठकर आलू छील रही थी। झोपड़ी के

कला में सत्य

बच्चों के लिए लिखित विविध निबंधों का संग्रह 'फूलों का बाग' की प्रस्तावना

[दुर्जनों की संतान, दुर्विनीत होने के कारण, तुम लोग अच्छी बातें कैसे बोल सकते हो ? क्योंकि हृदय की प्रपूर्णता से ही मुख बोलता है। भद्र मनुष्य अपने मांगलिक कोष से मंगलमय वस्तुओं को प्रस्तुत करता है; और नीच मनुष्य अपने कल्मषकोष से हानिकर वस्तुओ को निकालता हैं। और मैं तुम्हें बता दूँ कि उस प्रत्येक व्यर्थ शब्द का लेखा निर्णय के दिन हमें देना पड़ेगा जिसे हम बोलते हैं। तुम्हारे शब्दो के ही आधार पर तुम्हारे साथ न्याय होगा और तुम्हारे ही शब्दों के आधार पर तुम्हें दण्ड मिलेगा।' (मैथ्य, १२, मत्र–३४–३७)]

इस पुस्तक मे ऐसी कथाओ के अलावा जिनमें कि सत्य घटनाएँ वर्णित हैं ऐसी भी कथाएँ, कहावते, किंवदतियाँ, लतीफे, परपरारूपक, और अप्सरा-वृत्त है, जो मनुप्य के लाभ के लिए रचे और लिखे गए हैं।

हमने ऐसे ही सत्य और शिव वृत्तों को चुना है जिनसे ईसा के उपदेशो की सगति बैठ सके।

बहुत से लोग खास कर बच्चे, कोई कहानी, परी की कथा, किंवदन्ती या लतीफा पढ़ते वक्त सबसे पहले यही पूछते हैं : 'क्या यह सच है ?' और यदि उन्हे यह भान हुआ कि जो कुछ उनसे कहा गया वह घटित नही हो सकता तो वे प्राय: कहते हैं—'अरे ! यह केवल कल्पना है, सत्य नही।'

जो इस तरह निर्णय करते हैं, गलत निर्णय करते है।

सत्य उसके द्वारा नही ज्ञातव्य है जो केवल उतना ही जानता है जो कि कुछ समय से है, इस समय है, और वस्तुत: घटित होता है बल्कि उसके द्वारा जो उसे स्वीकार करता है जो ईश्वरेच्छा के अनुसार होना चाहिए।

वह व्यक्ति सत्य नही लिखता जो केवल इसी का वर्णन करता है कि क्या बीत चुका है अथवा अमुक-अमुक व्यक्ति ने क्या-क्या किया, वरन् सत्य

लेखक वह है जो यह प्रदर्शित करता है कि कौन कार्य जनता करती है जो न्याय्य है—जो ईश्वरेच्छा के अनुसार है; और वह कौन गलती है जो जनता करती है—यानी वही ईश्वरेच्छा के विपरीत है।

सत्य एक मार्ग है। ईसा ने कहा था—'मैं मार्ग हूँ, सत्य हूँ, जीवन हूँ।'

अत: जो व्यक्ति अपने पाँव की ओर देखता है उसे सत्य का ज्ञान न होगा, बल्कि उसे होगा जो सूर्य के प्रकाश द्वारा तै करता है कि किस मार्ग से जाना चाहिए।

शाब्दिक वर्णन अच्छे और आवश्यक होते हैं—तब नहीं जब वे घटित का वर्णन करते हैं, बल्कि तब जब वे प्रदर्शित करते हैं कि क्या होना चाहिएं था; तब नहीं जब वे लोगों द्वारा किए गए कार्यों का वर्णन करते हैं, बल्कि तब जब वे शिव-अशिव की कसौटी निर्धारित करते हैं—जब वे जीवन की ओर हमें ले जानेवाला ईश्वरेच्छा का संकीर्ण पथ दिखाते हैं।

और उस पथ का प्रदर्शन करना जिसे इष्ट हो, उसे उतने का ही वर्णन नही करना चाहिए जो संसार में घटता है। संसार नीचता और अपराध से भरा है। संसार का यदि यथातथ्य वर्णन करना हो, तो हमें बुराइयों का अधिक वर्णन करना पड़ेगा और इस तरह सत्य दूर रह जाएगा। किसी की वर्णना में सत्य हो इसके निमित्त यह आवश्यक नहीं कि जो स्थित है उसीके विषय में वह लिखे, बल्कि यह आवश्यक है कि वह उसके विषय में लिखे जो वांछनीय है। जो अस्तित्व में है उसका वर्णन लाभकर नही, अपितु ईश्वर के राज्य का जो हमारे समीप आ तो रहा है पर अभी तक आ नहीं सका है। इसीलिए असंख्य पुस्तको में हमें बताया गया है कि वस्तुत: क्या घटनाएँ घटी या घट सकती थी, तथापि वे सब असत्य हैं यदि उनके लेखकों को स्वयं पता न हो कि शिव और अशिव क्या है, यदि उन्हें ईश्वर के राज्य का मार्ग न तो ज्ञात हो न वे उस मार्ग को दिखाने में सक्षम हों। बहुत-सी ऐसी परी की कहानियां, किंवदंतियाँ, उदाहरण, रूपक-कहानियाँ हैं, जिनमें वे चमत्कार-पूर्ण वस्तुएँ वर्णित हैं जो कभी घटित नहीं हुईं, न घट सकती थीं; और ये किंवदंतियाँ, परी-कथाएँ और लतीफे सत्य हैं क्योंकि वे उसका दर्शन कराते हैं जिसमें ईश्वरेच्छा स्थित है और रहेगी : अर्थात् वे ईश्वरीय राज्य का सत्य प्रदर्शित करते हैं।

कोई पुस्तक ऐसी हो सकती है और वस्तुतः वहुत ऐसे गल्प और उपन्यास हे जो यह निरूपित करते हैं कि किस प्रकार कोई व्यक्ति अपने मनोवेगो के लिए जीता है, कष्ट सहता है, दूसरो को सताता है, खतरा और अभाव सहता है, षड्यन्त्र करता है, दूसरों से संघर्ष करता है, अपनी दरिद्रता से पलायन करता है और अंत में अपने प्रेमपात्र से संवद्ध होकर प्रशसित, धनी तथा आनंदित होता है। ऐसी किताव, भले ही उसमें वर्णित हर वात वास्तव मे घटित हुई हो, और भले ही उसमें कुछ असभाव्य न हो, फिर भी असत्य और मिथ्या है; क्योकि जो व्यक्ति अपने और अपने मनोरागो के लिए जीता है वह हर्गिज प्रसन्न नही रह सकता चाहे उसकी पत्नी कितनी ही सुन्दर क्यों न हो और वह कितना ही धनी और प्रशंसित क्यों न हो।

एक किंवदती यह हो सकती है कि किस प्रकार ईसा और उनके शिष्य पृथ्वी पर चले और एक धनी व्यक्ति के पास गए और उस धनी ने उनका स्वागत नही किया, और वे एक निर्धन विधवा के यहाँ गए तो उसने उनका स्वागत किया और तव उन्होने एक पीपा सोना धनी व्यक्ति के यहाँ भेज दिया और वेचारी विधवा के यहाँ एक भेड़िया भेज दिया ताकि वह उसके अतिम वछड़े को खा डाले। शायद विधवा के लिए यह दान वरदान सिद्ध हुआ हो और धनी के लिए वह दान अभिशाप।

ऐसी कहानी पूर्णतया असंभव है क्योकि जो कुछ वर्णित है उसमें की एक भी वात न तो कभी हुई और न हो सकती थी; परन्तु यह सव सत्य है, यह संभव है क्योकि इसमें यह प्रदर्शित है कि क्या होना चाहिए—क्या भला है और क्या वुरा, और ईश्वरेच्छा को पूर्ण करने के लिए मनुष्य को कौन से कार्य करने चाहिएँ।

इससे कोई मतलव नही कि कौन-कौन से चमत्कार वर्णित है, कौन पशु मानुषी भाषा में वोल सकते हैं, कौन-सी उडन-कालीनें लोगो को यहाँ-वहाँ पहुँचा सकती हैं, सभी किंवदंतियां, कथाएँ, अप्सरा-वृत्त सत्य होगे, यदि उनमें ईश्वरीय राज्य का सत्य निहित है और यदि इस सत्य का अभाव है तो प्रत्येक वर्णित वस्तु, चाहे कितनी ही सप्रमाण क्यों न हो, असत्य होगी क्योकि उसमें ईश्वरीय न्याय के सत्य का अभाव है। ईसा स्वयं उपदेश पूर्ण कहानियो में वोलते थे और उनकी कहानियाँ अमर सत्य से पूर्ण है। उन्होने केवल इतना कहा था: 'इसका ध्यान रक्खो कि तुम किस प्रकार सुनते हो।'

—१८८७

कला

['कला क्या है' नामक निबंध लिखने के पूर्व, ताल्स्ताय ने कला पर अपने विचार व्यक्त करने का अंतिम प्रयत्न 'कला' नामक निबंध में किया। इस निबंध से उन्हें सन्तोष न हुआ परन्तु कई प्रकार से यह उस वक्तव्य के समीप था जो उन्हें अंतिम रूप से देना था। जब उन्होंने इसे लिखा उस समय वे जिन कामों को नहीं सम्पन्न कर सके थे, वे थे : (१) कला की स्पष्ट, जीवन्त परिभाषा, जो उनकी परवर्ती पुस्तक में दी गई, (२) कलाकृति के उस रूप को, जो उसे भविष्णु बनाता है, तथा भावना के उस वस्तु-तत्व को जो व्यापक जीवन से सम्बन्धित होने के कारण मानव-जाति के लिए हानिकर अथवा लाभकर सिद्ध होता है---एकान्त समीक्षा की महत्ता एवं आवश्यकता का स्पष्ट बोध।

'कला' निबंध में भान होता है कि ताल्स्ताय अभी उस मार्ग को सावधानी से टटोल रहे हैं जिसको पूर्णतया उन्होंने खोज नहीं लिया है; यह तो काफी अरसे बाद की बात है कि 'कला क्या है' में उन्होंने अपने विश्वासों को बल और उत्साह के साथ पेश करते हुए उन्मुक्त गति का परिचय दिया।]

कला क्या है और क्या नहीं है; तथा कला कब महत्वपूर्ण होती है और कब तुच्छ ?

: १ :

हमारे जीवन में बहुत से नगण्य, यहाँ तक कि हानिकर कार्यकलाप हैं जो अनर्ह होने पर भी सम्मान प्राप्त करते हैं, या उन्हें केवल इसलिए सहन किया जाता है क्योंकि वे महत्वपूर्ण समझे जाते हैं। फूल, घोड़े, प्राकृतिक दृश्य, बहुत से तथाकथित शिक्षित परिवारों मे सीखा जानेवाला भद्दा संगीत, पत्र-पत्रिकाओं में निकलनेवाली सैकड़ों दुर्बल गप्पें और बुरे गीत, प्रत्यक्षतः ही कलात्मक कार्य नहीं है, और अभद्र, कामोत्तेजक, विलासपोषक चित्रों का अंकन या उस तरह की कविताओं और कहानियों की रचना, सम्मानार्ह क्रिया नहीं है, भले ही उनमें कुछ कलात्मक गुण हों।

और इसीलिए उन सभी कृतियों को ध्यान मे रखकर, जो हमारे बीच कलात्मक समझी जाती हैं, मै इसे लाभप्रद समझता हूँ कि जो वस्तुतः कला है उसे उस वस्तु से पृथक् कर लिया जो वस्तु यह नाम पाने की अधिकारिणी ही नही, और दूसरे, जो वास्तव मे कला है, उसमे यह छान-बीन की जाय कि क्या भला और महत्त्वपूर्ण है और क्या तुच्छ और अशिव।

कला को कला-रहित से और शिव एवं उदात्त को अशिव एव तुच्छ से अलग करने के लिए कहाँ और कैसे रेखा खीची जाय यह प्रश्न जीवन मे अत्यधिक महत्त्व का है।

जो वस्तुएं कला नही हैं उन्हें कला कहने से जीवन मे अनेक दोष और अपराध उत्पन्न होते हैं। उन वस्तुओ को, जो कि सम्मान नही वरन् निन्दा और घृणा की पात्र हैं हम अनर्ह सम्मान दे बैठते हैं। कला के उद्भव के लिए आवश्यक उपकरणो—स्टूडियो, रग, कैनवस, संगमर्मर, सगीत के बाजे और दृश्यावली तथा अन्य उपकरणो से युक्त थियेटर—के निर्माण में विपुल मानवी श्रम-व्यय होने के अलावा उन कलाओ मे दीक्षा पानेवालो की तैयारी में लगने वाले एकतरफा श्रम से मानवो की जिन्दगी वास्तव मे पतित हो जाती है। नृत्य और संगीत की तथाकथित कलाओं का अभ्यास करने के लिए हजारों बच्चो को अमित श्रम के लिए विवश किया जाता है। शिक्षित वर्ग के बच्चो की बात तो दरकिनार क्योकि वे भी कला के प्रति अपनी श्रद्धाजलि कष्टप्रद पाठो को रटने के रूप में देते हैं—नाटक और सगीतवाले पेशो में लगे हुए बच्चों को केवल उस कला के नाम पर तोड़ा-मरोड़ा जाता है, जिस पर वे समर्पित हो चुके हैं। यदि ७-८ सालके बच्चे को बाजा बजाने के लिए विवश करना संभव है और १०-१५ वर्ष तक प्रतिदिन ७-८ घटे यह क्रम बनाए रखने को मजबूर करना संभव है, यदि लडकियो को नृत्यशालाओ मे रखना सभव है और तत्पश्चात् गर्भाधान के प्रथम महीनो में उनकी उछल-कूद चालू रखना संभव है, और यदि यह सब कला के नाम पर किया जाता है, तब यह निश्चय ही आवश्यक है कि सर्वप्रथम स्पष्ट कर दिया जाय कि वास्तविक कला क्या है—अन्यथा कही कला के छद्म मे जाली चीज की सृष्टि न हो जाय—और तत्पश्चात् यह भी प्रमाणित करना चाहिए कि कला मानव जाति के लिए महत्त्वपूर्ण विषय है।

अतः मानवता के लिए महत्वपूर्ण, आवश्यक और मूल्यवान वस्तु 'कला' को व्यर्थ के पेशों, व्यावसायिक उत्पादनो और अनैतिकता से अलग करनेवाली विभाजक रेखा कहाँ है ?

: २ :

एक सिद्धान्त—जिसे इसके विरोधी प्रवृत्तिमूलक कहते हैं—यह है कि वस्तु-तत्व की श्रेष्ठता में वास्तविक कला का सार निहित है : अर्थात् सच्ची कला के लिए आवश्यक है कि उसका वस्तु तत्व श्रेष्ठ, मानव के लिए आवश्यक, शुभ, नैतिक और शिक्षाप्रद हो।

इस सिद्धान्त के अनुसार कलाकार—अर्थात् वह व्यक्ति जिसके पास कोई कौशल है—युगीन समाज को रुचनेवाले सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विषय को लेकर और उसे कलात्मक प्रतीत होनेवाले आवरण से आच्छादित करके, एक सच्ची कलाकृति की सृष्टि करता है। इस सिद्धान्त के अनुसार कलात्मक प्रतीत होनेवाले आवरणों से युक्त धार्मिक, नैतिक, सामाजिक, और राजनीतिक सत्य कलात्मक कृतियाँ हैं।

दूसरे सिद्धान्त, 'कला के लिये कला' अर्थात् सौंदर्यवाद की स्थापना यह है कि सच्ची कला का सार उसके आवरण (रूप) के सौंदर्य में निहित है; अर्थात् यदि कला सत्य है तो उसके लिए आवश्यक है कि वह जिसका चित्रण करे वह सुन्दर हो।

इस सिद्धान्त के अनुसार कला-सृष्टि के लिए आवश्यक है कि कलाकार के पास निर्माण-कौशल हो; और वह ऐसे पदार्थ का चित्रण करे जो अधिकतम मात्रा में आनंदप्रद प्रभाव उत्पन्न करे, अतः तात्पर्य यह है कि एक सुन्दर प्राकृतिक दृश्य खंड, सुमन-निचय, फल, एक नग्न शरीर, और नृत्यादि कला-कृतियाँ हैं।

तीसरा सिद्धांत—यथार्थवाद—कहता है कि कला का सार सत्य के यथा-तथ्य, वास्तविक निरूपण में है : अर्थात् यदि कला सच्ची है तो उसे जीवन को उसी रूप में चित्रित करना चाहिए जैसा वह है।

इस सिद्धान्त के अनुसार यह निष्कर्ष निकलता है कि वस्तु की श्रेष्ठता अथवा रूप के सौन्दर्य से परे कलाकार द्वारा देखी-सुनी कोई भी वस्तु—वह प्रत्येक वस्तु जिसका उपयोग वह चित्रांकन में कर सके—कलाकृति हो सकती है।

: ३ :

तब अपेक्षित, श्रेष्ठ, सम्मानार्ह कला को उन अनावश्यक, तुच्छ और भर्त्सना योग्य रचनाओं से अलग करने की सीमा-रेखा कहाँ है जो पूर्णतया पतित करनेवाले प्रभावों से युक्त है ? किस कार्य या वस्तु में वास्तविक कलात्मक क्रिया निहित है ?

इस प्रश्न का स्पष्ट उत्तर देने के लिए पहले हमें कलात्मक और दूसरी प्रकार की क्रियाओं को पृथक करना चाहिए, क्योकि इनमें प्रायः भ्रम उत्पन्न होता है। यह क्रिया है पूर्ववर्ती पीढ़ियो से प्राप्त प्रभावों तथा अनुभवो को हस्तातरित करने की । इस क्रिया को उन नए अनुभवों की प्राप्ति से अलग करना है, जिन्हे एक पीढ़ी दूसरी पीढ़ी को विरासत में देती जायगी।

कला और विज्ञान के क्षेत्र मे पूर्वजो का ज्ञान ग्रहण करने का कार्य अध्यापन और अध्ययन कहलाता है। परन्तु किसी नई वस्तु की रचना ही निर्माण है—यही वास्तविक कलात्मक क्रिया है ।

विद्या-दान का कार्य स्वतंत्र महत्व नही रखता वल्कि पूर्णतया उस महत्त्व पर निर्भर है जो जन समुदाय रची हुई चीजों को देता है—जिस वस्तु को वह उत्तराधिकार के रूप मे देने योग्य समझता है। अतएव किसी कृति की परिभाषा यह भी स्पष्ट कर देगी कि वे कौन-सी चीजें है जो विरासत मे दी जानी चाहिएँ। अथच, अध्यापक का कार्य प्रायः कलात्मक नही समझा जाता; कलात्मक क्रिया का महत्त्व उचित ही रचना को अर्थात् कलात्मक सृजन को दिया जाता है ।*

---

* कला की सर्वाधिक प्रचलित और सामान्य परिभाषा यही है कि कला वह विशिष्ट क्रिया है जिसका लक्ष्य भौतिक उपादेयता नहीं वरन् जनता को आनंद देना है; वह आनंद जो 'आत्मा का उत्थान और उन्नयन करे।'

बहुसख्यक जनसमुदाय की कला विषयक धारणा से यह परिभाषा मेल खाती है; परन्तु यह गलत और अस्पष्ट है और मनमाने अर्थों की सभावना रखती है ।

पहले तो यह स्पष्ट नहीं है, क्योंकि यह एक ही धारणा में दो बातों का ग्रथन कर देती है—एक तो यह कि कला-कृति उत्पन्न करनेवाली

तब कलात्मक (और विज्ञानात्मक) रचना क्या है ?

कलात्मक (और विज्ञानात्मक भी) रचना वह मानसिक कार्य शृंखला है, जो स्पष्टतया अननुभूत भावों (या विचारो) को स्पष्टता की ऐसी मात्रा तक ला देती है कि वे भाव (या विचार) अन्य लोगो तक पहुँच जाते हैं।

रचना की प्रक्रिया—जिससे सबको प्रयोजन है और इसीलिए जिसे आंतर अनुभूति द्वारा हम सब जानते हैं—इस प्रकार घटित होती है: कोई व्यक्ति किसी अश्रुत-अदृष्ट पूर्व नई बात का अनुमान करता है या उसका अस्पष्ट रूपेण बोध करता है। यह नई बात उसे प्रभावित करती है और सामान्य वार्तालाप में वह ज्ञात वस्तु का वर्णन अन्यो को सुनाता है और उसे यह देखकर आश्चर्य होता है कि जो कुछ उसे दिखाई पड़ा वह श्रोताओ के लिए बिल्कुल अदृश्य रहा। जिसके विषय में वह उन लोगो को बताता है, उसे न तो वे लोग देख तथा न अनुभव ही कर पाते हैं। यह वियोजन, असहमति, दूसरो से अनैक्य पहले उसे अशांत करता है, और अपने ज्ञान की परख करके वह व्यक्ति

मानुषी प्रक्रिया कला है, और दूसरे ग्रहीता की भावनाएँ। फिर, इसमें मनमाने अर्थ लगाए जाने की सभावना है, क्योकि यह इसका निर्णय नहीं करती कि किस वस्तु में वह आनंद है जो 'आत्मा का उत्थान और उन्नयन करता है।' इसलिए कोई भी व्यक्ति यह घो णा कर सकता है कि वह अनुक रचना से आनद पाता है जब कि उसी रचना से अन्य व्यक्ति को रच भी आनद नहीं मिलता।

और इसीलिए कला की परिभाषा करने के लिए यह आवश्यक है कि उस प्रक्रिया की विशिष्टता की परिभाषा कर दी जाय—रचयिता की आत्मा में इसके उद्भव की, और ग्रहीताओ की आत्मा पर इसके विचित्र प्रभाव की। कारीगरी या व्यापार या विज्ञान (यद्यपि कला से विज्ञान बहुत सम्बन्धित है) की प्रक्रिया से यह प्रक्रिया पृथक् है, क्योकि इसका आविर्भाव भौतिक आवश्यकता के अनुरोध से नहीं होता, अपितु यह प्रक्रिया रचयिता और ग्रहीता दोनों को एक विशेष प्रकार का 'कलात्मक संतोष' देती है। जिसे यह लक्षण समझना हो उसे यह समझना चाहिए कि इस क्रिया की ओर उन्मुख होने के लिए कौन-सी चीज बाध्य करती है—अर्थात् कलात्मक निर्माण कैसे होता है।

अनेकशः यत्न करता है कि जो कुछ उसने देखा-सुना-समझा है वह सब दूसरों तक प्रेषित कर दे; परन्तु ये अन्य लोग अब भी उसके द्वारा प्रेषित बात को नहीं समझते या उस प्रकार नहीं समझते या अनुभव करते जिस प्रकार उसने समझा है। और वह व्यक्ति इस शंका से विक्षुब्ध होने लगता है कि क्या वह किसी ऐसी चीज का अनुभव तो नहीं कर रहा जिसका वस्तुतः अस्तित्व ही नहीं है, या अन्य लोग उस वस्तु को देख और समझ ही नहीं पा रहे हैं जिसका अस्तित्व है। और इस शंका के समाधानार्थ वह अपनी सारी शक्ति के साथ अपने अन्वेषण को इतना स्पष्ट बना देता है कि उसके अथवा अन्यों के मस्तिष्क में उस वस्तु के अस्तित्व में शंका का अणु भी नहीं रह जाता जिसे उसने देखा है, और ज्यों ही यह स्पष्टीकरण पूर्ण हो जाता है और वह व्यक्ति अपनी देखी-समझी अनुभूत वस्तु के अस्तित्व पर शंका करना छोड़ देता है, त्यों ही अन्य लोग उसी की तरह देखने-समझने तथा अनुभव करने लगते हैं। जो कुछ अस्पष्ट और धूमिल था उसे अपने तथा अन्यों के लिए स्पष्ट और निश्चित बनाने का यह प्रयास वह स्रोत है जिससे मनुष्य की सामान्य आध्यात्मिक सक्रियता के उत्पादन प्रवाहित होते है, या वे वस्तुएं निकलती हैं जिन्हें हम कलाकृतियाँ कहते हैं—जो मनुष्य के क्षितिज को विस्तीर्ण करती हैं और अदृष्टपूर्व वस्तुओं को देखने को विवश करती है।*

कलाकार का कर्तृत्व इसी में है; इस कर्तृत्व से ग्रहीता की भावना संबंधित है। इस भावना का उद्गम अनुकरणशीलता में है, बल्कि प्रभावित होने की क्षमता में और एक वशीकरण में है अर्थात् इस तथ्य में है कि कलाकार की आत्मशक्ति उसके समक्ष संदिग्ध वस्तु का प्रकाशन करके, एक कलात्मक रचना के माध्यम द्वारा ग्रहीताओं तक पहुँच जाती है। कोई कलाकृति तब सम्पूर्ण कही जाती है जब वह इतनी स्पष्ट कर दी जाय कि अन्यों तक अपने को प्रेषित कर सके और उन में वही भावना उत्पन्न कर दे जो रचना करते समय कलाकार को अनुभूत हुई थी।

---

* मनुष्य की मानसिक क्रिया के परिणामों को अध्ययन के सुभीते के लिए धार्मिक, वैज्ञानिक, दार्शनिक, कलात्मक, उपदेशात्मक विभागों में बाँटा जाता है। परन्तु इन विभागों का अस्तित्व वास्तव में होता ही नहीं; ठीक उसी तरह जिस तरह त्वेर, निझनीगोरद, सिम्वर्स्क खण्ड वोल्गा नदी के भाग नहीं हैं, बल्कि वे भाग हैं जिन्हें हमने अपने सुभीते के लिए बना लिया है।

जो कुछ पहले अदृष्ट, अननुभूत, अबोध्य था वह भावना की सघनता द्वारा स्पष्टता की उस मात्रा तक ला दिया जाता है जब कि वह सब के लिए स्वीकार्य हो जाता है। और ऐसी ही रचना कलाकृति है।

जिस कलाकार ने अपना लक्ष्य पा लिया है उसकी सघन भावना का परितोष उसे आनंद प्रदान करता है। भावना के इसी अनुरोध को अनुभूति और इसकी तुष्टि, इस भावना पर समर्पण, इसका अनुकरण और इसका प्रभाव (जँभाईका-सा), कुछ ही क्षणो में उसका अनुभव करना जिसे रचना निर्माण करते समय कलाकार ने अनुभव किया—यही वह आनंद है जिसे कलाकृति का रसास्वाद करनेवाले प्राप्त करते है।

मेरी समझ मे यही विशिष्टता कला को अन्य प्रक्रियाओ से पृथक् करती है।

: ४ :

इस विभाजन के अनुसार, मानव जाति को जो कुछ भी नवीनता प्रदान करती है, जो कलाकार की भावना और विचारणा के मंथन से उद्भूत है, वही कलाकृति है। परन्तु लोग जो महत्व इस प्रक्रिया को देते है वास्तव में यह उसकी अधिकारीणी बनी रहे, एतदर्थ आवश्यक है कि यह मानव जाति के लिए हितकर वस्तुएँ प्रदान करे, क्योकि यह प्रत्यक्ष है कि किसी नवीन विकृति को या दुर्वृत्तिजनक लालसा को हम वह महत्त्व नहीं दे सकते जो मानव जाति के लिए हितकर किसी कला को हम देते हैं। कला का महत्त्व और गुण इसमें है कि वह मनुष्य की दृष्टिपरिधि को विस्तीर्ण करे, मानवता की आध्यात्मिक पूँजी में वृद्धि करे।

अतएव, यद्यपि कलाकृति में सदैव नवीनता का समावेश होना चाहिए, तथापि किसी नई वस्तु का उद्घाटन सदैव कलाकृति नहीं हो सकता। वह कलाकृति हो इसके लिए आवश्यक है कि :

(१) वह नवीन विचार, कला का वस्तु-तत्व, मानव जाति के लिए महत्त्वपूर्ण हो।

(२) यह वस्तु-तत्व इतनी स्पष्टता से अभिव्यक्त हो कि लोग इसे समझ सकें।

(३) कलाकार निर्माण की ओर आन्तरिक अनुरोधवश प्ररित हो न कि वाह्य प्रलोभनों के कारण।

इसीलिए जिसमें कोई नवीन बात उद्घाटित नही की गई है वह कलाकृति नही है; जिसका वस्तु-तत्व नगण्य और मनुष्य के लिए लाभहीन हो वह कलाकृति नहीं है, चाहे वह कितनी ही बुद्धिमत्ता से व्यक्त की गई हो और चाहे रचयिता ने इसका निर्माण आंतर प्रेरणा के अनुरोध से ही किया हो। न ही वह वस्तु कलाकृति है जो इस तरह अभिव्यक्त है कि दुर्वोध है, भले इससे रचयिता का संवंध निष्ठात्मक हो; न तो वह वस्तु कलाकृति है जिसका निर्माण कलाकार ने आभ्यंतर प्रेरणा से नही वल्कि किसी वाह्य प्रयोजन पूर्ति के लिए किया है, चाहे उसका वस्तु-तत्व श्रेष्ठ और उसकी अभिव्यक्ति वोधगम्य हो।

कलाकृति वह है जो किसी नवीन वस्तु का अनावरण करती है और साथ ही कुछ दूर तक इन तीन शर्तो का पालन करती है : वस्तुतत्व, रूप, और निष्ठा।

यहाँ यह समस्या खड़ी होती है कि वस्तुतत्व, सौन्दर्य, सत्यनिष्ठा की उस लघुतम मात्रा की परिभापा कैसे की जाय—कलाकृति कहलाने के लिए किसी रचना में जिसका होना आवश्यक है।

कलाकृति होने के लिए सर्वप्रथम इसकी वस्तुतत्व ऐसी होनी चाहिए जो अव तक अज्ञात थी, परन्तु मनुष्य को जिसकी आवश्यकता है; द्वितीय, यह उसका निरूपण ऐसी वुद्धिमत्ता से करे कि वह सव के लिए सुवोध हो; तृतीय, कलाकार की किसी आंतरिक शंका के समाधान की आवश्यकता से वह उत्पन्न हो।

जिस कृति में ये तीनों शर्तें अल्प मात्रा में भी उपस्थित होंगी वह कलाकृति होगी; परन्तु वह रचना जिसमें इनमें से एक का भी अभाव होगा कलाकृति न होगी।

परन्तु यह दलील पेश की जा सकती है कि प्रत्येक रचना मे मनुष्य की आवश्यकता की कुछ चीजें रहेंगी, और प्रत्येक रचना किसी हद तक वोधगम्य होगी, और प्रत्येक रचना से उसके रचयिता का सम्वन्ध किसी मात्रा तक सत्यनिष्ठ होगा। अपेक्षित वस्तुतत्व, वोधगम्य अभिव्यक्ति और निरूपण की निष्ठा की सीमा कहाँ है? कला की प्राप्त महत्तम सीमा का दर्शन हमें इस प्रश्न का एक उत्तर देगा : जो कला नही है उसे कला से पृथक् करते हुए महत्तम सीमा का विलोम हमें निम्नतम सीमा का दर्शन कराएगा। वस्तु-तत्व की महत्तम सीमा वह है जिसकी आवश्यकता हरेक मनुष्य को हर वक्त रहती है। हरेक

मनुष्य के लिए जो वस्तु हर वक्त आवश्यक है वही शिव और नैतिक है।* परिणामतः वस्तु-तत्व की निम्नतम सीमा वह होगी जिसकी मनुष्यो को आवश्यकता नही रहती और वह 'वस्तु' अशिव और अनैतिक होगी। अभिव्यक्ति की श्रेष्ठतम सीमा वह है जो सदैव सभी के लिए बोधगम्य हो। जो इस तरह बोधगम्य है उसमें कुछ भी गूढ़, अनावश्यक या अनिश्चित न रहेगा, बल्कि केवल वह रहेगा जो स्पष्ट, सक्षिप्त और सुनिश्चित हो—अर्थात् वह जिसे 'सुन्दर' कहा जाता है।

ठीक इसके विपरीत अभिव्यक्ति की वह निम्नतम सीमा है जो धूमिल, सदिग्ध, विकीर्ण है—अर्थात् जो रूपहीन है। अपने विषय के प्रति कलाकार का श्रेष्ठतम सम्बन्ध वह होगा जो सभी मनुष्यो की आत्मा में वास्तविकता की अनुभूति उत्पन्न कर दे—जो अस्तित्व में है उसकी वास्तविकता उतनी नही जितनी कलाकार के मानसांदोलन की। सत्य की यह छाप (अनुभूति) सत्य द्वारा ही उत्पन्न होती है, अतएव अपने विषय से किसी रचयिता का उत्तम सम्बन्ध है—सत्य निष्ठा। ठीक इसके विपरीत निम्नतम सीमा वह है जिसमें रचयिता का अपने विषय से सम्बन्ध सत्यपरक नही वरन् मिथ्या है। सभी कलाकृतियो का समावेश इन्ही दो सीमाओ के अन्तर्गत है।

अपूर्ण कलाकृति वह होगी जिसमें वस्तु-तत्व सभी मनुष्यो के लिए श्रेष्ठ और महत्त्वपूर्ण है, इसलिए वह नैतिक है। अभिव्यक्ति एकदम स्पष्ट होगी;

---

* पचास वर्ष पहले 'महत्त्वपूर्ण', 'शिव' और 'नैतिक' की व्याख्या न करनी पड़ती, परन्तु हमारे युग में दस में से नौ शिक्षित जन विजयपूर्ण मुद्रा में पूछेंगे कि 'महत्त्वपूर्ण, शिव, और नैतिक क्या है ?'। वे यह समझते है कि ये शब्द वैकल्पिक अर्थों वाले है, न कि निश्चयात्मक अर्थ के द्योतक; अतएव मुझे इस प्रत्याशित आपत्ति का उत्तर देना आवश्यक है।

जो वस्तु जनता में हिंसा से नहीं, प्रेम से मेल पैदा करती है, जो वस्तु मनुष्यो के पारस्परिक सौहार्द का सुख उद्घाटित करती है वह 'श्रेष्ठ', 'शिव' और 'नैतिक' है। 'अशिव', 'अनैतिक' तो वह है जो उन्हें विभाजित करती है, जो उन्हें विभेद-जनित कष्ट की ओर अग्रसर करती है। 'श्रेष्ठ' वह है जो मनुष्यों को उन वस्तुओं को समझना और प्रेम करना सिखाती है जिन्हें पहले वह नहीं समझता या प्रेम करता था।

सब के लिए सुबोध होगी अतः सुंदर होगी; अपनी रचना के प्रति कलाकार का संबंध हार्दिक और आत्मीय होगा अतः सत्य होगा। अपूर्ण कलाकृतियाँ, कलाकृतियाँ भले ही हों, ऐसी रचनाएँ होंगी जो उल्लिखित तीनों शर्तों का पालन तो करेंगी परन्तु अपर्याप्त मात्रा में। वह कृति कलाकृति न होगी जिसमें या तो वस्तु-तत्व नगण्य और अनुपयोगी है, या अभिव्यक्ति एकदम अगम्य, या कृति के प्रति कलाकार का संबंध अवास्तविक। इनमें से प्रत्येक सूत्र में प्राप्त की गई पूर्णता की मात्रा ही सब सच्ची कला-कृतियों के वैशिष्ट्य का विभेद बताती है। कभी प्रथम शर्त प्रमुख रहती है, कभी द्वितीय और कभी तृतीय।

शेष सभी अपूर्ण रचनाएँ, कला की तीन प्राथमिक शर्तों के अनुसार, स्वभावतः ही तीन प्रमुख प्रकारों में आती हैं: (१) जो अपने वस्तु-तत्व की श्रेष्ठता के कारण जीवित रहती हैं, (२) जो अपने आकार-सौंदर्य के कारण जीवित रहती हैं, और (३) जो अपनी हार्दिक ईमानदारी के कारण जीवित रहती हैं। ये तीनों प्रकार अपूर्ण कला की समीपता के जनक हैं और जहां भी कला है अनिवार्यतः वहाँ उत्पन्न होते हैं।

युवक कलाकारों में हार्दिक ईमानदारी तो प्रमुखतया रहती है परन्तु वस्तु-तत्व नगण्य और आकार थोड़ा बहुत सुन्दर होता है। ठीक इसके विपरीत, प्रौढ़ कलाकारों में वस्तु-तत्व की श्रेष्ठता के समक्ष आकार, सौदर्य और ईमानदारी नगण्य मात्रा में रहते हैं। श्रमशील कलाकारों में रूप-सौदर्य के सामने वस्तु-तत्व और ईमानदारी अत्यल्प मात्रा में रहते हैं।

सभी कलाकृतियों के गुण का निर्णय इन तीन गुणो के अल्पाधिक परिमाण के आधार पर किया जा सकता है और इन श्रेणियो में रखा जा सकता है: (१) जिनमें वस्तु-तत्व तथा सौदर्य है पर सत्यनिष्ठा नहीं, (२) जिनमें वस्तु-तत्व है परन्तु सौंदर्य और निष्ठा नहीं, (३) जिनमें वस्तु-तत्व नहीं परन्तु सौंदर्य और ईमानदारी है। इस तरह अनेक श्रेणियां की जा सकती है।

सब कलाकृतियाँ, और सामान्यतः मनुष्य की सब मानसिक क्रियाएँ इन तीन प्रमुख गणों के आधार पर समझी जा सकती हैं; और वे इसी तरह समझी गई हैं और समझी जाती हैं।

इन तीन शर्तों के विषय में प्रत्येक युग में विभिन्न लोग कला के समक्ष जो माँगें उपस्थित करते हैं, उन्ही के कारण मूल्यांकन का अंतर उत्पन्न हुआ करता है।

उदाहरणार्थ उदात्त युग में वस्तु-तत्व की महत्ता की माँग अधिक थी और स्पष्टता तथा ईमानदारी की माँग बहुत कम, परन्तु हमारे युग में ठीक इसके विपरीत है। मध्ययुग में सौंदर्य की माँग अधिक हो गई परन्तु वस्तु-तत्व की महत्ता और रचयिता की ईमानदारी की माँग बहुत कम हो गई; और हमारे युग में ईमानदारी और सत्यपरायणता की माँग बहुत अधिक हो गई है पर सौंदर्य, और खासकर वस्तु-तत्व की महत्ता की माँग बहुत कम।

: ५ :

कलाकृतियो का मूल्याकन उस समय अनिवार्यतः सही होगा, जिस समय हम इन तीन शर्तों को ध्यान में रखे और उस समय अनिवार्यतः गलत होगा जिस समय हम इन तीन शर्तों के आधार पर नही बल्कि इनमें से एक या दो के आधार पर परीक्षा करेंगे।

फिर भी इस प्रकार कलाकृतियो का, इनमें से केवल एक शर्त के आधार पर मूल्याकन करने की गलती हमारे युग में विशे रूप से की जाती है इस तरह हम कला से अपेक्षित उस तत्व का स्तर नीचा कर देते हैं, जिसकी उपलब्धि कला की अनुकृति मात्र से संभव है। फलत: आलोचक, रसज्ञ और कलाकार भी यह नहीं समझ पाते कि कला क्या है और इसकी सीमा-रेखा कहाँ है—वह रेखा जो इसे कारीगरी और विनोद से पृथक् करती है।

इस द्विधा का कारण यह है कि जो लोग वास्तविक कला को समझने मे असमर्थ हैं वे कलाकृतियो पर एकागी निर्णय देते है और अपनी शिक्षा एव संस्कार के अनुसार उनमे प्रथम, द्वितीय या तृतीय पक्ष पर ही ध्यान देते है। उन्हे यह भ्राति रहती है कि उन्हें दिखाई पड़नेवाला यह एक पक्ष ही—तथा इस पर आधारित कला का महत्व—संपूर्ण कला की परिभाषा कर देता है। कुछ लोग केवल वस्तु-तत्व को श्रेष्ठता खोजते हैं, कुछ लोग आवरण का सौंदर्य, और कुछ लोग केवल कलाकार की ईमानदारी और सत्यशीलता। जो कुछ वे समझते हैं अथवा देखते है उसी के अनुसार कला को प्रकृति का निरूपण भी करते है, अपनी स्थापनाओं का निर्माण करते है और उन लोगो की प्रशंसा-

प्रोत्साहना करते हैं जो उन्हीं के समान, बगैर यह समझे कि कला कहाँ सन्निविष्ट है, कृतियों का निर्माण पकौड़ी की तरह करते हैं और संसार मे हर तरह की मूर्खता और घृणाजनक कृतियों का गंदा ढेर लगा देते हैं और उन्हीं को 'कलाकृति' समझते हैं।

वहुसंख्यक समुदाय ऐसा ही है और उस समुदाय के प्रतिनिधि होन के नाते, पूर्वोल्लिखित तीन सौंदर्यवादी सिद्धान्तों के प्रवर्तक भी ऐसे ही थे, क्योंकि ये सिद्धान्त इस समुदाय के दृष्टिकोणों और अनुरोधों से मेल खाते हैं।

ये तीनो सिद्धान्त कला और इसकी तीन प्राथमिक शर्तों के स्पष्टोकरण के महत्त्व विपयक भ्रांति पर आधारित है; और इसोलिए ये तीन मिथ्या सिद्धान्त परस्पर विरोधी हैं, क्योकि वास्तविक कला को तोन प्राथमिक शर्ते है जिनमें से उल्लिखित सिद्धांत केवल एक को ही स्वीकार करते हैं।

तथाकथिन प्रवृत्तिमूलक कला का प्रथम सिद्धांत उसी वस्तु को कलाकृति मानता है, जिसका विषय नवीन भले ही न हो पर अपनी नैतिकता के कारण मानवों के लिए महत्त्वपूर्ण हो। इस महत्त्व मे उस वस्तु के सौदर्य और आध्यात्मिक गांभीर्य का योग न रहेगा।

'कला के लिए कला' का द्वितोय सिद्धांत उसी वस्तु को कलाकृति मानता है जिसमें रूप-सौदर्य है—भले ही उसमें नवोनता, ईमानदारी या वस्तु-तत्व की श्रेष्ठता न हो।

'यथार्थवाद' का तृतीय सिद्धांत उसी वस्तु को कलाकृति मानता है जिसमें कृति से कलाकार का संवंध ईमानदारी का रहा है और जो इसीलिए सत्य है। यह अंतिम मत यह प्रतिपादित करता है कि वस्तु-तत्व कितना ही नगण्य या भद्दा हो, थोड़े-वहुत सुन्दर रूप मे कृति वांछनोय (सुन्दर) होगी—यदि कलाकार का अपनी रचना से संवंध निष्ठापरक अतएव सत्यपरायण है।

: ६ :

ये सभी सिद्धांत एक प्रमुख वात भूल जाते हैं—कि न तो श्रेष्ठता, न सौदर्य, न ईमानदारी कलाकृति के आवश्यक उपादान प्रस्तुत करते हैं वरन् ऐसी कृतियों के निर्माण की प्रथम शर्त यह है कि कलाकार में किसी नवीन और श्रेष्ठ-विषय की स्फुरणा हो; और इसीलिए हमेशा की तरह आगे भी यही मान्य रहेगा कि सच्चे कलाकार के लिए 'कुछ एकदम नवीन और श्रेष्ठ' का दर्शन होना

आवश्यक है। ताकि कलाकार नवीन वस्तु पहचान सके, उसके लिए आवश्यक है कि वह देखे और विचार करे तथा अपने को उन तुच्छ वातो में व्यस्त न रखे जो जीवन-रहस्य के चितन और तत्सम्वन्वी उसकी भेदक दृष्टि में वाधा वनें। ताकि जिन नवीन चीजो को वह देखता है वे श्रेष्ठ हो एतदर्थ कलाकार को नैतिक रूप से उन्नत होना चाहिए और उसे स्वार्थपूर्ण जीवन न व्यतीत करना चाहिए, वल्कि मानव जाति के साधारण जीवन में शामिल होना चाहिए।

यदि वह केवल नवीन और श्रेष्ठ को खोजेगा, तो इसे अभिव्यक्त करने के लिए वह अवश्यमेव एक रूप पा जाएगा और वह सत्यपरायणता भी उपस्थित रहेगी जो कलात्मक रचना का अनिवार्य अग है। उसे नये विपय को इस तरह व्यक्त करने में समर्थ होना चाहिए कि सव लोग उसे समझ सकें। इसके लिए उसे अपने कार्य में इतना कुशल होना चाहिए कि निर्माण के समय वह उस कार्य के नियमो को विल्कुल न सोचे—ठीक जिस तरह चलते समय कोई मनुष्य संचरण के नियमो को नही सोचता। और इस सिद्धि के लिए आवश्यक है कि कलाकार अपनी रचना को सतोपपूर्वक न देखे, न उसको प्रशसा करे, और निर्माण-कोशल को अपना लक्ष्य न वना डाले—ठीक जिस तरह चलनेवाले को अपनी चाल के विपय में सोचना और उसकी प्रशंसा करना वर्जित है—वल्कि वह केवल अपने विपय को स्पप्टतापूर्वक व्यक्त करे और इस तरह व्यक्त करे कि वह सवके लिए वोधगम्य हो।

अतएव, किसी वाह्य सिद्धि के लिए नही वल्कि अंतरात्मा के अनुरोध की तुष्टि के लिए रचना करनेवाले कलाकार को दम्भ और लालसा की भावनाओ से ऊपर उठना चाहिए। उसे अन्य के हृदय से निस्सृत नही, वरन् अपने हृदय से निस्सृत प्रेम करना चाहिए। जिसे अन्य लोग प्रेम करते है या प्रेमभाजन समझते हैं, उसे मैं भी प्रेम करता हूँ—ऐसा प्रपंच उसे नही करना चाहिए।

और इस उपलब्धि के लिए कलाकार को वलाम के उस आचरण का अनुसरण करना चाहिए जो उसने तव किया था जव सदेशवाहक उसके पास आए और वह एकांत में ईश्वर की प्रतीक्षा करता रहा ताकि उन्ही के आदेशानुसार वक्तव्य दे। परन्तु वलाम ने वाद में जैसा आचरण किया वैसा कलाकार को न करना चाहिए। उपहारों के प्रलोभन से, ईश्वर की आज्ञा के विरुद्ध, वह राजा के पास गया। यह अपराध उस गधे को भी साफ-साफ दिखाई पड़ा, जिस पर

वलाम सवार था परन्तु उसे नही क्योकि वह दम्भ और लालसा से अधा हो गया था ।

: ७ :

हमारे युग मे वैसी किसी चीज की माँग नही पेश की जाती। कला का अनुसरण करनेवाले मनुष्य के लिए यह प्रतीक्षा करने की जरूरत नही कि उसकी आत्मा में कोई महत्त्वपूर्ण और नयी स्फुरणा उद्भूत हो जिसे वह ईमानदारी से प्रेम कर सके और तदुपरांत उपयुक्त रूप में उसे आच्छादित कर सके। हमारे युग में जिसे कला-कार्य अपनाना होता है वह या तो किसी ऐसे स्वकालीन विषय को लेता है, जिसकी ऐसे लोग प्रशंसा करते हैं जो उसकी दृष्टि में चतुर है, और इसे वह यथासंभव सुन्दर 'कलात्मक आवरण' से आच्छादित करता है; या वह ऐसा विषय चुनता है जो उसे निर्माण-कौशल के प्रदर्शन का पर्याप्त अवसर देता है और धैर्य्य एवं परिश्रमपूर्वक ऐसी वस्तु की रचना करता है जिसे वह कलाकृति समझता है; या अनायास प्राप्त किसी प्रभाव के उद्गम को वह अपना विषय बनाता है और समझता है कि उससे कलाकृति उत्पन्न होगी क्योकि उससे वह प्रभावित हुआ था ।

फलतः असंख्य तथाकथित कलाकृतियाँ उत्पन्न होती है, और जैसा कि प्रत्येक यांत्रिक कारीगरी में होता है, ऐसी कृतियाँ अनवरत रूपसे बनाई जा सकती है । समाज में हमेशा रंगीन विचार प्रचलित रहते है और धैर्य रखने से एक विशिष्ट प्रकार का निर्माण-कौशल हमेशा सीखा जा सकता है और कोई न कोई चीज सदैव किसी को रोचक लग सकती है । सच्ची कलाकृति के लिए अपेक्षित शर्तों की उपेक्षा करके लोगो ने इतनी कलाभासपूर्ण कृतियाँ बनाई है कि जन-साधारण, आलोचक और मिथ्या कलाकार स्वयं उसकी परिभाषा करने में असमर्थ रहते है जिसे वे कला समझते है ।

इस युग के जनसमुदाय ने तो जैसे अपने आप से कहा हो कि : 'कलाकृतियाँ मांगलिक और उपादेय ह; अतः उनका अधिकाधिक निर्माण आवश्यक है।' वास्तव मे यदि कलाकृतियाँ अधिक हो तो अच्छा है; परन्तु दिक्कत यह है कि आप केवल फ़र्मायशी कृतियाँ बना सकते हैं—जो कारीगरी (दस्तकारी) की कृतियों से किसी तरह अच्छी नही हो सकती—क्योकि उनमें कला की प्रमुख शर्तो का अभाव रहता है ।

वास्तविक कलाकृति फ़र्माइश पर नहीं बन सकती क्योंकि सच्ची कलाकृति कलाकार की आत्मा में उठनेवाले, जीवन के एक नव्य रूप का उद्घाटन है जो अभिव्यक्त होने पर उस मार्ग को प्रकाशित कर देता है जिस पर चलकर मानवता प्रगति करती है। यह उद्घाटन जिस विधान के अनुसार होता है वह हमारी पहुँच के बाहर है।

पहला परिच्छेद

[कला पर लगाया गया श्रम और समय—इसकी सेवा में समाप्त हुए जीवन—कला पर बलि की गई ˚तिकता—एक नृत्य-नाट्य का अभ्यास।]

हमारे किसी भी साधारण समाचार-पत्र को ले लीजिए और आप उसमें संगीत और नाट्यशाला के लिए एक स्तंभ सुरक्षित पाएँगे। करीब प्रत्येक अंक में आप किसी कला-प्रदर्शनी का या किसी खास चित्र का वर्णन पाएँगे और अल्प प्रकाश में आनेवाली नई कलाकृतियों, कविता-संग्रहों, कहानियों तथा उपन्यासों की समीक्षाएँ भी हमेशा पाएँगे।

किसी नाटक, सुखांत प्रहसन, नृत्य-नाट्य के होने के शीघ्र बाद ही तथा विवरणपूर्वक यह प्रकाशित होगा कि किस तरह अमुक अभिनेता या अभिनेत्री ने अमुक-अमुक चरित्रों का अभिनय किया तथा संपूर्ण खेल कैसा रहा और उसकी विषय-वस्तु में क्या दोष-गुण थे। इतना ही नहीं, बल्कि अधिक सावधानी तथा विवरण के साथ, हमें बताया जाता है कि किस प्रकार अमुक-अमुक कलाकार ने अमुक गीत को गाया, उस गीत को पियानो या वायलिन पर बजाया और गीत अथवा गायन के क्या गुण-दोष थे। प्रत्येक बड़े नगर में नए चित्रों की यदि अधिक नहीं तो कम से कम एक प्रदर्शनी अवश्य होती है, जिसके गुण-दोष की विवेचना अत्यधिक विस्तार के साथ समीक्षक और कला-पारखीगण किया करते हैं।

नए उपन्यास और काव्य, चाहे स्वतंत्र रूप से अथवा पत्रिकाओं में, प्रतिदिन प्रकाशित हो रहे हैं और समाचार-पत्र अपने पाठको के समक्ष इन कलात्मक रचनाओं की विवरणपूर्ण सूचना देना अपना कर्तव्य समझते हैं।

रूस में कला-संवर्धन के लिए (जहाँ जन-शिक्षा के लिए उस राशि का सौवाँ भाग खर्च किया जाता है, जो प्रत्येक व्यक्ति को शिक्षा-लाभ का अवसर देने के लिए अपेक्षित है) सरकार सहायता के रूप में शालाओं, सस्थाओं और नाट्य-गृहों को लाखों रूवल का अनुदान देती है। फ्रांस में कला के लिए २०,००० फ्रैंक निर्धारित हैं और जर्मनी तथा अन्य देशों में भी ऐसे ही अनुदान दिए जाते है।

प्रत्येक वड़े नगर में संग्रहालयों, कला-शालाओं, कलासंस्थानों, नाट्य पाठशालाओं, प्रदर्शनो और संगीत-समारोहों के लिए वड़े-वड़े भवन निर्मित हैं। सैकड़ों हजार मजदूर—वढ़ई, राजगीर, चित्रकार, जोड़ाई करनेवाले, कागज लटकानेवाले, दर्जी, वाल वनानेवाले, सोनार, ढलाई करनेवाले, टाइप जमानेवाले—कला की माँगों की पूर्ति करने के लिए अपना सारा जीवन घोर परिश्रम करते हुए समाप्त करते है; फलतः सेना को छोड़ कर मानवी कार्यकलाप का कोई भी विभाग इतनी शक्ति का व्यय नहीं करता जितनी यह।

न केवल इस क्रिया पर वहुत श्रम ही व्यय किया जाता है वल्कि युद्ध की तरह इसमे भी मनुष्यों का जीवन ही वलि चढ़ जाता है। सैकड़ों हजार लोग अपने पैरों को शीघ्रता से घुमाना सीखने के लिए वचपन से ही अपना जीवन समर्पित कर देते हैं (नर्तकगण), अथवा शीघ्रतापूर्वक तारों को छूने (संगीतज्ञ) अथवा रंग से किसी देखी हुई चीज को चित्रित करने (चित्रकार) अथवा प्रत्येक शव्द के लिए तुकांत खोजने में जीवन विता देते हैं। और ये लोग, जो प्रायः वहुत दयालु, चतुर और हर प्रकार के उपयोगी श्रम में समर्थ होते हैं, अपने विशिप्टतासम्पन्न और मस्तिष्क विक्षिप्त करनेवाले व्यवसायों के विषय में वन्य हो जाते हैं और आत्मतुष्ट, एकांगी विशेषज्ञ वन जाते हैं। ये लोग केवल शीघ्रता से पाँव, जिह्वा या उँगलियों के संचालन में निपुण रह जाते हैं परंतु जीवन की गंभीर विविधता के प्रति उदासीन रहते हैं।

परंतु मानव जीवन की यह कुठा भी महत्तम अगति नहीं है। मुझे स्मरण आता है कि एक वार मैं एक अति साधारण नृत्य-नाट्य के अभ्यास में

उपस्थित था। यूरोप और अमेरिका की हर नाट्यशाला में दिखाये जानेवाले नवीन नृत्य-नाट्यों में से यह केवल एक था।

जब प्रथम अंक समाप्त हो चुका था तब मैं पहुँचा। दर्शकों में पहुँचने के लिए मुझे मंच-द्वार से गुजरना पड़ा। दृश्य-परिवर्तन तथा मंच और शाला को प्रकाशित करने के लिए लगी हुई बड़ी-बड़ी मशीनों के बगल में से अँधेरे प्रवेश-द्वार और निर्गम मार्गों से होते हुए मुझे एक भारी भवन की कोठरियों से ले जाया गया; और वहाँ धूल तथा अंधकार में मैंने मजदूरों को कार्यव्यस्त देखा। इनमें से एक पीला, बेढब, गंदे कुर्ते पहने, गंदे तथा श्रमजर्जर हाथों तथा लुंज उँगलियोंवाला, थका और विक्षुब्ध आदमी, दूसरे आदमियों को भला-बुरा कहता हुआ मेरे बगल से गुजरा। एक अँधेरी सीढ़ी चढ़ कर मैं दृश्यों के पीछे के तख्तों के पास आया। अनेक प्रकार के स्तम्भों, छल्लों और विकीर्ण दृश्यावली, सजावट और पर्दों के बीच प्रसाधन-आच्छादित और जंघा तथा पिंडलियों में कसे हुए कपड़े पहने दर्जनों पुरुष और नग्नप्राय औरतें खड़ी थीं और चल-फिर रही थीं। ये सब गायक थे या समूह-गानके सदस्य या नृत्य-नाट्य के नर्तक थे और अपनी बारी की प्रतीक्षा में थे। मेरा पथ-प्रदर्शक मुझे मंच के बीच से और तख्तों के एक पुल के द्वारा संगीतज्ञ-समुदाय के बीच से अंधेरी श्रेणी में ले गया। इस समुदाय में तासे से लेकर वंशी और तंत्री तक के करीब सौ संगीतज्ञ बैठे थे।

प्रसारकों से युक्त दो दीपों के बीच, संगीत-स्थल के समक्ष चबूतरे पर रखी एक आरामकुर्सी में संगीत के निर्देशक, हाथ में डंडा लिए हुए संगीत और गायकों का और सामान्यतया पूरे नाट्य-नृत्य के प्रदर्शन का संचालन करते हुए बैठे थे।

खेल शुरू हो चुका था और मंचपर ऐसे लाल अमेरिकनों का एक जुलूस दिखाया जा रहा था जो एक वधू घर लाए थे। वेशधारी स्त्री-पुरुषों के अलावा साधारण वस्त्र पहने हुए भी दो आदमी मंच के पास शोर और दौड़-धूप कर रहे थे : एक तो नाटक-अंश का निर्देशक था और दूसरा, जो कि मुलायम जूते पहने था और असाधारण सक्रियता से इधर-उधर फिर रहा था, नृत्य-शिक्षक था जिसका मासिक वेतन दस मजदूरों के साल भर के वेतन से अधिक था।

ये तीन निर्देशक गायन, वाद्य और जुलूस का प्रबंध करते थे। जुलूस, कंधों पर फरसे रक्खे स्त्री-पुरुषों के युग्मों द्वारा अभिनीत हुआ। जुलूस बनाने में बहुत

समय लगा : पहले तो फरसे लिए हुए आदि अमेरिकन (-लाल अमरीकी) वहुत देर में आए, फिर वहुत जल्दी; फिर उचित समय पर, परन्तु निर्गम स्थल पर सबने भीड़ लगा दी; फिर उन्होने भीड़ नही लगाई वल्कि मंच के दोनो ओर खड़े हो गए और हर वार पूरा खेल रोक दिया जाता था और शुरू से आरम्भ किया जाता था। तुर्की वेश पहने एक आदमी ने जुलूस के पहले एक प्रस्तावना-गीत गाया। उसने विचित्र ढंग से मुँह खोलकर गाया; 'मै घर लाया हूँ दुलऽहन'। उसने गाया और चोगे के अंदर से अपना नंगा हाथ लहराया। जुलूस शुरू हुआ परन्तु यहाँ प्रस्तावना के साथ वजनेवाली फ्रांसीसी श्रृंगी कुछ त्रुटि कर बठी और जैसे कोई दुर्घटना हो गई हो, निर्देशक ने स्तभ पर अपनी छड़ी से खट्-खट् किया। सव रुक गया, और निर्देशक ने वाद्यवृन्द की ओर घूमकर कठोरतम शब्दों में, फ्रासीसी ढंग की, भर्त्सना की—जिस प्रकार गाड़ीवान एक दूसरे को गाली देते है—कि उन्होंने गलत स्वर क्यों बजाया ! और फिर सारी चीज शुरू से आरंभ होती है । अपने फरसे लिए हुए, असाधारण जूते पहने, हलके कदम रखते हुए लाल अमरीकी फिर आते है; फिर गायक गाता है, 'मै घर लाया हूँ दुलऽहन'। परन्तु अब युग्म एक दूसरे के वहुत समीप रहते है। छड़ी से और भी धमाके, अधिक भर्त्सना, और पुनरारम्भ होता है। फिर 'मै घर लाया हूँ दुलऽहन', चोगे के अन्दर से पुनः नंगे हाथ द्वारा वही भाव-भंगी, कंधों पर फरसे लिए हुए, धीमे-धीमे चलते हुए, कुछ लोगों की मुद्रा उदास और गंभीर, कुछ लोग मुखर है, मुस्कराते हुए युग्मक प्रवेश करते है और वृत्ताकार होकर गाने लगते है। प्रतीत होता है कि सब कुछ ठीक चल रहा है, परन्तु फिर निर्देशक छड़ी से धमाके करता है और सहगान के स्त्री-पुरुषों को व्यथित, क्षुब्ध वाणी मे भला-बुरा कहता है। ऐसा प्रतीत होता है कि वे लोग गाते वक्त सजीवता के लिए अपेक्षित, बीच-बीच में हाथ उठाना भूल गए थे। 'क्या तुम सव मर गए हो ? तुम सब बैल हो क्या ? क्या तुम लाश हो जो हिल-डुल नही सकते ?' वे फिर से प्रारंभ करते है, 'मै घर लाया हूँ दुलऽहन', और फिर उदास चेहरे वनाए, सहगानकी स्त्रियाँ, एक के वाद दूसरी, अपने हाथ उठाती हुई गाती है लेकिन दो लड़कियाँ आपस में वोल देती है,—फिर छड़ी से जोर का धमाका होता है। 'क्या तुम लोग यहाँ बात करने आई हो ? क्या घरपर गप नही कर सकती हो ? लाल पाजामेवाली तुम लोग, नजदीक आओ। मेरी ओर देखो। फिर शुरू करो।' फिर प्रारम्भ हुआ 'मै घर लाया हूँ दुलऽहन'। और फिर यह क्रम दो-तीन घंटे तक चलता है। इस अभ्यास

मे कई घटे लग जाते है। छड़ी के धमाके, गायको, वादको, जुलूस और नर्तको के कार्य की पुनरावृत्तियाँ, पुनःस्थापनाएँ, सशोधन—सक्रोध फटकार के साथ। एक घटे में कम से कम ४० बार सगीतज्ञो तथा गायको को कहे गए य शब्द—'गधे', 'मूर्ख', 'नालायक', 'सूअर'—मैने सुने। जिस अभागे व्यक्ति को गाली दी गई है वह—चाहे शृंगीवादक हो या गायक या वंशीवादक—शारीरिक तथा मानसिक पतन का शिकार होकर प्रत्युत्तर नही देता और जैसा आदेश पाता है वैसा करता है। वीस बार यही एक वाक्यांश दुहराया जाता है 'मै घर लाया हूँ दुलऽहन', और वीस बार कंधे पर रसे रक्खे, पीले जूते पहने इधर-उधर चहल-कदमी भी होती है। सचालक जानता है कि ये लोग इतने पतित हो चुके है कि अब किसी अन्य कार्य के योग्य नही रह गए, सिवा इसके कि तुरही बजाएँ और फरसे लेकर, पीले जूते पहन कर चलें, और वह यह भी जानता है कि रसिक, सरल जीवन से वे ऐसे अभ्यस्त हो गए हैं कि सब कुछ सह लेंगे पर अपना विलासी जीवन नही त्यागेंगे। अतः अपनी उद्दण्डता वह मुक्त रूप में अभिव्यक्त करता है, विशेष कर इसलिए क्योंकि पेरिस और वियना में उसने यही सब होते देखा है, और जानता है कि सर्वोत्तम सचालक इसी प्रकार व्यवहार करते हैं और समझता है कि अन्य कलाकारो की भावनाओ का ख्याल किये बगैर, अपनी कला के उच्च व्यापार मे, इसी प्रकार प्रवाहित होना बड़े कलाकारो की संगीत परंपरा है।

इससे अधिक विकर्पक दृश्य पाना कठिन है। मैने देखा है कि जब बोझे उतरे जाते हैं तब एक मजदूर दूसरे मजदूर को इसलिए गाली देता है क्योंकि वह उसके बोझ को सहारा नही दे रहा है या गाँव का मुखिया, चारा इकट्ठा होते समय, मजदूरों को इसलिए डाँटता है क्योंकि वे ढेर ठीक से नही लगा रहे है और मजदूर चुपचाप तदनुसार कार्य करने लगते है। और यह दृश्य देखना कितना भी बुरा लगा हो, इस परिज्ञान से यह कम बुरा लगा कि कार्य बहुत आवश्यक तथा महत्वपूर्ण था और जिस क्सूर के कारण मुखिया ने मजदूर को फटकारा था वह ऐसा था कि उससे एक आवश्यक अनुबध नष्ट हो जाता।

परन्तु यहाँ क्या किया जा रहा था? किसलिए और किस के लिए? सभवतः संचालक उन मजदूरो की ही तरह थक गया था जिन्हें मैने कोठियो में जाते वक्त देखा था; स्पष्ट भी था कि वह थका है, पर उसे किसने थकाया? और वह अपने को क्यो थका रहा था? सगीत-नाट्यो से जो अभ्यस्त है उनको

दृष्टि में वह एक अत्यंत साधारण संगीत-नाट्य का अभ्यास कर रहा था; बल्कि इतनी बड़ी वेहूदगी कर रहा था कि जिससे बढ़ कर और कोई मूर्खता थी ही नही। एक लाल अमरीकी राजा विवाह करना चाहता है; दुलहन लाई जाती है, वह गायक का छद्मवेश धारण करता है; दुलहन इस गायक से प्रेम करती है और हताश होती है परन्तु बाद में उसे पता लगाता है कि गायक राजा है, और सब लोग बहुत खुश होते हैं।

यह असंदिग्ध है कि न तो ऐसे लाल अमरीकी हो सकते थे, न थे; और वे न केवल उनके अनुरूप नहीं थे वरन् वे लोग जो कुछ कर रहे थे वैसा नाटकगृहो को छोड़ पृथ्वी पर अन्यत्र नहीं होता था। यह भी असंदिग्ध है कि लोग गीतों में वार्ता नही करते और नृत्य चतुष्क में अपने को निश्चित दूरी पर नही रखते और अपने मनोभावों के प्रकाशनार्थ हाथों का संचालन नही करते, थियेटर के सिवा और कहीं लोग इस तरह जोड़ो में, चट्टी पहने, फरसे लिए हुए नहीं चलते; कोई भी इस तरह मुग्ध नही होता, इस तरह प्रभावित नही होता, इस तरह हँसता नही, इस तरह चिल्लाता नही; और यह भी असंदिग्ध है कि पृथ्वी का कोई जीव ऐसे खेलों से परितृप्त नही होता।

स्वाभाविक रूप से प्रश्न उठता है: यह किसके लिए किया जा रहा है? किन लोगों को यह प्रसन्न कर सकता है? यदि कभी संगीत नाट्य में सचमुच अच्छे गीत होते हैं, जिन्हें सुनकर आनंद होता है, तो उन्हें इन वेहूदा परिधानों, जुलूसों और गीतात्मक वचनों और हस्त संकेतों के बगैर भी गाया जा सकता है।

नृत्य-नाट्य केवल कामोत्तेजक खेल है क्योकि इसमे अर्द्धनग्न स्त्रियाँ विविध उद्दीपक ऐंठनों में शरीर तोड़ते-मरोड़ते हुए विलासपूर्ण मुद्राओ का प्रदर्शन करती हैं।

फलत: यह समझना मुश्किल है कि ये चीजें किसके लिए की जाती हैं। संस्कृत व्यक्ति हृदय से इन चीजो से घृणा करता है, और एक वास्तविक सामान्य जन के लिए ये खेल दुर्बोध हैं। यदि इन चीजों से कोई आनंदित हो सकता है (जो संदिग्ध है) तो वह कोई जवान नौकर या पतित कारीगर होगा, जिसने ढंग तो उच्चवर्गीय बना लिए हैं परंतु उनके विनोद से अभी प्रसन्न होना नहीं सीखा है और अपनी खान्दानियत दिखाने को उद्यत है।

और यह गर्हित मूर्खता साधारणता से अथवा उदार मस्ती से नही तैयार की जाती वरन् क्रोध और जंगली निर्दयता से।

कहा जाता है कि यह सब कला के लिए किया जाता है और कला एक बड़ी महत्त्वपूर्ण चीज है। परन्तु क्या यह सच है कि कला इतनी श्रेष्ठ है कि उसके लिए ऐसे बलिदान किए जायें ? यह प्रश्न विशेप रूप से आवश्यक है, क्योकि जिस कला के लिए लाखो का श्रम, मनुष्यो का जीवन, और सबसे बढ़कर मानवो का पारस्परिक प्रेम बलि दिया जा रहा है, वही कला उत्तरोत्तर अस्पष्ट और मानवी बुद्धि के लिए अग्राह्य होती जा रही है।

जिसमें कला प्रेमी अपनी सम्पतियो के लिए समर्थन पाते थे ऐसी आलोचनाएँ इस समय इतनी आत्मविरोधी हो गई है कि यदि हम कला के क्षेत्र से वह सब निकाल दें जिसे विविध सिद्धान्तो वाले समालोचक 'कला' नाम से अभिहित ही नही करते, तो मुश्किल से ही कोई कला बच रहेगी।

विविध संप्रदायो के धर्म-प्रचारकों की तरह विविध मतो के कलाकार परस्पर एक दूसरे को अलग रखते है और विनष्ट कर देते हैं। हमारे युग के कलाकारो के वक्तव्य सुनिए तो हर दिशा में आप देखेंगे कि एक समुदाय दूसरे का खंडन कर रहा हैं। काव्य में प्राचीन स्वच्छन्दतावादी कलार्थ कलावादियो और ह्रासोन्मुखो को अस्वीकार करते है; कलार्थ कलावादी स्वच्छन्दतावादियों और ह्रासोन्मुखो को अस्वीकार करते हैं; ह्रासोन्मुखी लोग अपने सभी पूर्वजो और प्रतीकवादियो को अस्वीकार करते है, प्रतीकवादी अपने सभी पूर्वजो और बुद्धिवादियों को अस्वीकार करते हैं; और बुद्धिवादी अपने सभी पूर्ववर्तियो को अस्वीकार करते है। उपन्यासकारो में प्रकृतवादी, मनोविज्ञानवादी और 'प्रकृतिवादी' है, जो एक दूसरे का खडन कर रहे हे। यही दशा नाट्यकला, चित्रकला और संगीत कला में है। फलत: लोगो से मानवी जीवन को कुठित करनेवाला और मानवी प्रेम के प्रतिकूल आचरण करनेवाला घोरतम परिश्रम माँगनेवाली कला न केवल निश्चित स्पष्ट रूप से परिभाषित नही है वल्कि अपने ही पूजको द्वारा इतने विरोधी प्रकारो से समझी जाती है कि यह कहना कठिन है कि कला क्या है और विशेषकर यह कहना कि वास्तव में कौन-सी वस्तु शुभ, उपादेय कला है—वह कला जिसके लिए उसके मंदिर में दी जानेवाली ऐसी बलियो को क्षम्य कहा जा सके।

दूसरा परिच्छेद

[क्या कला इतने कल्मष का मुआवजा देती है ?—कला क्या है ?—मतों का जाल—क्या यह वह है 'जो सौंदर्य को जन्म देती है' ?—रूसी भाषा में 'सौंदर्य' शब्द—सौंदर्य भावना में अराजकता ।]

प्रत्येक नृत्य-नाट्य, संगीत-नाट्य, सर्कस, प्रदर्शनी, चित्र संगीत तथा मुद्रित पुस्तक के निर्माण सवंधी प्रायः हानिकर और अपमानजनक कार्यो म हजारों व्यक्तियों का गहन और अनिच्छित श्रम अपेक्षित होता है । वड़ा ही अच्छा होता यदि कलाकारगण स्वयं अपनी आवश्यकता की चीजें वना लिया करते, परन्तु वस्तुस्थिति यह है कि वे न केवल 'कला-सर्जना' के निमित्त मजदूरों की सहायता की अपेक्षा करते है वल्कि अपने विलासितापूर्ण जीवन निर्वाह के लिए भी । और किसी न किसी प्रकार वे इसे पाते भी है—या तो धनिकों द्वारा दिए गए दान से अथवा सरकार द्वारा दिए गए अनुदान से (उदाहरणार्थ रूस में लाखों रूवल दान में थियेटरों, कला-संस्थानों और ललित कला की शालाओं को मिलता है) । यह धन जनता से वसूल किया जाता है—जिसमें कुछ लोग अपनी एकमात्र गाय वेचकर कर चुकाते हैं और कलाप्रदत्त सौदर्यात्मक आनंद पाने से सर्वदा वंचित रह जाते है ।

उन्नीसवीं शती के पूर्वार्ध में ग्रीक, रोमन अथवा रूसी कलाकार के लिए शांति-पूर्वक जनता को अपनी तथा अपनी कला की सेवा मे नियोजित करना भले ही अच्छा रहा हो, क्योकि उस समय गुलामों का अस्तित्व था और यह न्याय्य समझा जाता था कि गुलामी वनी रहे; परन्तु आज जव सभी के भीतर मानवमात्र के समानाधिकारों की थोड़ी-वहुत जानकारी जग चुकी है, तव यह असंभव हो गया है कि विना पहले यह तै किए कि क्या कला वास्तव में इतना श्रेप्ठ और महत्त्वपूर्ण विषय है कि इस पाप का परिहार कर सके, लोगों को अनिच्छापूर्वक कला के नाम पर श्रम करने को लाचार किया जाय ।

यदि नही, तो इस चिन्ता की भीषण संभावना है कि जिस कला के नाम पर मानव, नैतिकता तथा श्रम की भयजनक वलियाँ चढ़ाई जा रही है वह न केवल लाभहीन है अपितु हानिकर भी ।

इसलिए जिस समाज में कलाकृतियाँ वनती और समर्थन पाती हैं उसके लिए आवश्यक है कि यह पता लगाए कि कला होने की दावेदार वस्तुएँ वास्तव

में कला हैं या नहीं; जो कुछ कला के नाम से अभिहित होता है मांगलिक है या नही (हमारे समाज में उसे अनिवार्यतया शिव समझा जाता है), क्या वह महत्त्वपूर्ण है और उन वलियों की अर्हता रखती है जो उसके लिए अपेक्षित होती हैं। यह जानकारी प्रत्येक ईमानदार कलाकार के लिए और भी आवश्यक है क्योंकि वह विश्वस्त हो सकेगा कि जो कुछ वह करता है उसका एक वैध अर्थ है—वह यह जान ले कि यह उस छोटे से समाज की मूर्खता तो नहीं है, जो उसे यह मिथ्या आश्वासन प्रदान करता रहता है कि वह एक अच्छे कार्य में संलग्न है—और यह भी जान ले कि क्या वह अपने विलासितापूर्ण जीवन निर्वाह के लिए जो कुछ अन्यों से लेता है, उसका मुआवजा उन कृतियों से मिल जाएगा जिन्हें वह वना रहा है। इसीलिए इस युग में उपरिलिखित प्रश्नों के उत्तर विशेष महत्त्व के हैं।

वह कौन-सी कला है जिसे मानव जाति के लिए इतना श्रेष्ठ और आवश्यक समझा जाता है कि उसके लिए श्रम, मानव-जीवन और भद्रता की ये वलियाँ चढ़ाई जायें ?

'कला क्या है ?' कैसा विचित्र प्रश्न है! कला अपने अनेक रूपों में स्थापत्य, शिल्प, चित्रण, संगीत और काव्य है—यह उत्तर प्रायः सामान्यजन, कलाकार स्वयं तथा कला के विद्यार्थी देते हैं और उन्हें यह विश्वास रहता है कि जिस विषय पर वे वात कर रहे हैं वह सब के लिए एक-सा ही सुवोध और स्पष्ट है। परन्तु प्रश्नकर्ता कहेगा—स्थापत्य में क्या ऐसे साधारण भवन नहीं हैं जो कलात्मक नहीं कहे जा सकते, और कलात्मक सम्पन्नता के दावेदार क्या ऐसे भवन नहीं हैं जो विफल और विरूप हैं अतएव कला-पदार्थ नहीं कहे जा सकते ?

फिर कला की पहचान का लक्षण कहाँ मिले ?

शिल्प, संगीत, काव्य सब में यही स्थिति है। अपने सभी रूपों में कला एक ओर तो व्यावहारिक उपादेयता से परिसीमित है और दूसरी ओर कला के नाम पर किए गए असफल प्रयत्नों द्वारा। इनमें से कला को कैसे पहचाना जाय ? हमारे समाज का सामान्यतया शिक्षित व्यक्ति और वह कलाकार भी इस प्रश्न पर चिंतित न होगा जिसने अपने को सौंदर्य-दर्शन में वहुत नहीं उलझा रखा है। वह समझता है कि समाधान तो वहुत पहले दिया जा चुका है और सव को ज्ञात है।

ऐसा व्यक्ति कहेगा—'कला वह क्रिया है जो सौंदर्य को जन्म देती है।'

आप पूछेंगे, 'यदि ऐसी क्रिया कला है तो क्या नृत्य-नाट्य या संगीत-नाट्य भी कला है ?'

थोड़ी हिचकिचाहट के साथ साधारण जन उत्तर देगा : 'हाँ, एक अच्छा नृत्यनाट्य या 'शोभन' संगीत-नाट्य भी उस सीमा तक कला है जहाँ तक वह सौंदर्य का उद्घाटन करे ।'

परन्तु विना उस साधारण जन से यह पूछे कि 'अच्छा' नृत्य-नाट्य तथा 'शोभन' संगीत-नाट्य अपने विरूपों से कैसे अलग किया जाय ? (जिस प्रश्न का उत्तर देना उसके लिए बड़ा कठिन होगा) यदि आप उससे पूछें कि क्या परिधान-प्रबंधक, केश-विन्यासक अथवा नृत्य-नाट्य की स्त्रियों की काया और मुखमण्डल की सज्जा करनेवालो का कार्य कला है; या वेशविधायक, इत्र-रचयिता और रसोइए का कार्य कला है तो वह अस्वीकार कर देगा कि इनका कार्यकलाप कला के क्षेत्र से सम्वन्धित है । परन्तु यही साधारण व्यक्ति गलती करता है क्योकि वह विज्ञेपज्ञ नही साधारणजन है और उसने अपने को सौदर्यशास्त्र के प्रश्नों के समाधान में नहीं लगाया है। यदि वह इन विषयों में गहरे पैठता तो रेनाँ की 'मार्क आरेल' पुस्तक में यह विवेचन पाता कि वेशविधायक का कार्य कला है और जो लोग स्त्री की सज्जा को श्रेष्ठतम कला नही समझ सकते वे संकुचित मनोवृत्ति के अनुद्‌बुद्ध जीव है । रेनाँ का कथन है—'यह वड़ी भारी कला है ।' और उसे यह भी ज्ञात होता कि कई सौदर्यात्मक प्रणालियों में—उदाहरणार्थ विद्वान् प्रोफेसर क्रैलिक की सौंदर्य-शास्त्र पर दो पुस्तकों में और गुवायू के ग्रन्थ 'समकालीन सौदर्यशास्त्र की समस्यायें' में परिधान, रुचि और स्पर्श की कलाएँ समाविष्ट की गई है ।

तव हमारे व्यक्तिगत निरीक्षण से कलाओं का पंचमुखी रूप उत्पन्न होता है—(क्रैलिक, पृ० १७५) । वे पाँचो ज्ञानेन्द्रियो के सौदर्यात्मक निरूपण है ।

ये पाँचो कलाएँ निम्नलिखित है:—

पृ० १७५—आस्वाद (रुचि) की कला

पृ० १७७—घ्राण की कला

पृ० १८०—स्पर्श की कला

पृ० १८२—श्रवण की कला

पृ० १८४—दर्शन की कला

इनमें से प्रथम के विषय में वह कहते हैं—"आस्वाद की कला......... । कलात्मक कार्य के लिए दो या तीन ज्ञानेन्द्रियाँ ही सामग्री प्रदान करने में समर्थ हैं, परन्तु मैं समझता हूँ कि यह मत अभिसंधानात्मक रूप से ही सही है। मैं इस तथ्य पर बहुत बल न दूंगा कि सामान्य बोल-चाल में अन्य कलाएँ भी स्वीकृत हैं यथा पाक-कला।"

पुनश्च : "फिर भी जब पाक-कला एक जानवर के शव को सर्वथा आस्वाद्य वस्तु बना देती है वह कलात्मक उपलब्धि है। तब स्वाद की कला का सिद्धांत (जो पाक-कला से कहीं आगे है) यह है : जो भी खाद्य है उसे किसी विचार का प्रतीक समझा जाय और व्यक्त किए जाने वाले विचार से उसकी संगति बैठे।

रेनाँ की तरह यह लेखक भी परिधान की कला को मान्य स्वीकार करता है (पृ० २००)।

फ्रांसीसी लेखक गुवायू भी, जो इस युग के कुछ लेखकों द्वारा बहुत श्रद्धा-पूर्वक देखे जाते हैं, इसी मत के हैं। अपनी पुस्तक 'समसामयिक सौंदर्यसाधना की समस्याएँ' में गंभीरतापूर्वक उन्होंने बताया है कि स्पर्श, स्वाद एवं गंध सौंदर्यात्मक प्रभाव उत्पन्न करते हैं और उत्पन्न करने में समर्थ हैं—'यदि स्पर्श-ज्ञान में रसात्मकता नहीं है तो वह हमें ऐसा अनुभव प्रदान करता है जो मात्र नेत्रों के लिए अग्राह्य है अर्थात कोमलता, नमनीयता और चमक। मखमल का सौंदर्य उसकी चमक में नहीं बल्कि स्पर्शकोमलता में भी है। नारी-सौंदर्य की हमारी कल्पना में अनिवार्यतया उसकी त्वचा का चिकनापन सम्मिलित है।

संभवतः हम सभी थोड़ा ध्यान देने पर ऐसे स्वादोल्लास का स्मरण कर सकते हैं जो वास्तविक सौंदर्यात्मक आनद रहा है।'

इसके बाद वह उल्लेख करते हैं कि पर्वतों में उनके द्वारा पिया गया एक गिलास दूध कैसे उन्हें सौंदर्यात्मक उल्लास दे सका।

अतः प्रमाणित होता है कि, यह सिद्धांत कि कला सौंदर्य को अवतरित करती है, उतना आसान हर्गिज नहीं है जितना प्रतीत होता है, विशेषकर तब जब सौंदर्य की इस कल्पना में आधुनिकतम लेखकगण हमारी स्पर्श, स्वाद, घ्राण की चेतनाओं को समाविष्ट करते हैं।

परन्तु साधारण व्यक्ति या तो यह सब जानता नहीं या जानना नहीं चाहता और निश्चित रूप से विश्वस्त है कि सौंदर्य को कला का विषय मान लेने से कला संबंधी सभी प्रश्न आसानी और स्पष्टता के साथ हल किए जा सकते हैं। उसे यह स्पष्ट और बोधगम्य प्रतीत होता है कि कला वही है जो सौंदर्य को प्रस्तुत करे, और सौंदर्य का उल्लेख मात्र कला संबंधी सभी प्रश्नों के उत्तर-स्वरूप पर्याप्त है।

परन्तु जो सौंदर्य कला का विषय है वह क्या है? इसकी परिभाषा, कैसे की जाय? यह क्या है?

यह हमेशा का दस्तूर रहा है कि किसी शब्द द्वारा प्रेषित अर्थ जितना ही धुंधला और जटिल होगा उतने ही अधिक गांभीर्य तथा आत्मविश्वास के साथ लोग उसका प्रयोग करेंगे। और वे यह बहाना करेंगे कि इस शब्द का अभीष्ट अर्थ इतना सरल है कि उसके विषय में यह विवाद करना व्यर्थ है कि वास्तव में इसका अर्थ क्या है।

रूढ़िवादी धर्म के प्रश्न साधारणतया इसी प्रकार सुलझाए जाते हैं और आजकल लोग इसी तरह कला चेतना का निरूपण करते हैं। यह पहले ही मान लिया जाता है कि सौंदर्य द्वारा अभिहित अर्थ सभी को ज्ञात है। परन्तु न केवल यह अज्ञात है वरन् डेढ़ सौ वर्षों के भीतर भारी विद्वानों और गंभीर विचारकों द्वारा इस विषय पर लिखी गई पुस्तकों की विशाल राशि के बावजूद (जब से १७५० में बामगार्टेन ने सौंदर्य-शास्त्र की स्थापना की) यह प्रश्न कि सौंदर्य क्या है आज तक सुलझाया नहीं जा सका और सौंदर्य-शास्त्र की प्रत्येक पुस्तक में इसके नए-नए उत्तर प्राप्य हैं। इस विषय पर मेरी पढ़ी हुई अंतिम पुस्तकों में जूलियस मियेल्टर द्वारा लिखित 'सौंदर्य की पहेली' एक अच्छी पुस्तक है। यह शीर्षक इस प्रश्न के स्वरूप का समुचित स्पष्टीकरण कर देता है कि सौंदर्य क्या है? डेढ सौ वर्षों तक हजारों विद्वानों द्वारा सुचिंतित होने पर भी सौंदर्य शब्द का अर्थ आज भी पहेली बना हुआ है। जर्मन लोग इसका उत्तर सौ विभिन्न प्रकारों से अपने ही ढंग से देते हैं। शरीर-सौंदर्यवादी, विशेषकर अंग्रेज : हर्बर्ट स्पेंसर, ग्रांट ऐलेन, और उनका समुदाय—इस प्रश्न का उत्तर प्रत्येक व्यक्ति अपने निजी ढंग से देता है; फ्रांसीसी नैतिक समाहारक और गुवायू और टेन के अनुयायी भी अपने-अपने निराले ढंग से उत्तर देते हैं; बामगार्टेन, कैंट, शेलिंग, शिलर, फिश्ते, विंकेलमैन, लेसिंग, हीगेल, शोपेनहावर, हार्टमैन, शैसलर, कज़िन, लेवेक आदि द्वारा दिए गए समाधान सब को मालूम हैं।

'सौंदर्य' की यह विचित्र कल्पना क्या है, जो उन लोगों को तो इतनी सरल मालूम पड़ती है जो विना विचार किए वोलते है, परन्तु जिसकी परिभाषा करने में डेढ़ सौ साल के बीच के विभिन्न राष्ट्रो और विचारधाराओं वाले दार्शनिक किसी समझौते पर नही पहुँच सके ? सौंदर्य की यह धारणा क्या है जिस पर कला का मुख्य सिद्धांत आधृत है ?

रूसी भाषा में 'क्रैसोटा' (सौंदर्य) शब्द का अर्थ है : केवल वह वस्तु जो नेत्ररंजक हो। यद्यपि आजकल लोग 'भद्दा काम' और 'सुन्दर संगीत' का प्रयोग करने लगे है तथापि यह अच्छा प्रयोग नही है।

विदेशी भाषाओ से अपरिचित किसी साधारण रूसी से यदि आप कहें कि जिस अमुक आदमी ने एक दूसरे आदमी को अपना कोट दे डाला, या ऐसा ही कोई कार्य किया है उसने एक 'सुन्दर कार्य किया है,' या जिस आदमी ने दूसरे को धोखा दिया है उसने 'भद्दा कार्य' किया है, या फलां गीत 'सुन्दर' है—तो वह आपका आशय न समझेगा।

रूसी भ.षा में कोई कार्य दयापूर्ण और अच्छा हो सकता है या फिर क्रूर और बुरा। संगीत आनंदप्रद तथा अच्छा हो सकता है या फिर आनंदरहित और बुरा। परन्तु 'सुन्दर' या 'भद्दा' संगीत नाम की कोई वस्तु नही हो सकती।

कोई आदमी, घोड़ा, घर, दृश्य, या संचरण सुन्दर हो सकता है। कार्य, विचार, चरित्र, तथा संगीत यदि हमें आनंद प्रदान करते है तो हम उन्हें अच्छा कह सकते हैं, यदि वे हमें प्रसन्न नही कर सकते तो हम उन्हें बुरा कह सकते हैं। परन्तु 'सुन्दर' का प्रयोग तो केवल उस पदार्थ के लिए किया जा सकता है जो नेत्रो को सुख प्रदान करे। अत. 'अच्छा' शब्द और उसकी कल्पना में 'सुन्दर' की कल्पना (सिद्धात) समाहित है, परन्तु इसका विलोम सत्य नही है, 'सौंदर्य' की कल्पना में 'अच्छा' को कल्पना नहीं निहित है। यदि किसी वस्तु को हम उसके रूप के कारण 'अच्छा' कहते है तो इस तरह हम कहते है कि वह वस्तु सुन्दर है; परन्तु यदि हम कहते हैं कि अमुक वस्तु सुन्दर है तो इसका यह अर्थ कदापि नही कि वह वस्तु अच्छी भी है।

रूसी भाषा द्वारा, अतएव लोक चेतना द्वारा 'अच्छा' और 'सुन्दर' शब्दों को इस तरह का अर्थ दिया गया है।

सभी योरपीय भाषाओ में अर्थात् उन राष्ट्रों में जिनमें यह सिद्धात प्रचलित है कि कला में सौंदर्य की स्थिति परमावश्यक है 'अभिराम', 'रमणीक', 'सुन्दर',

'कमनीय' प्रभृति शब्दसमूह 'रूपात्मक सौदर्य' का अर्थ रखते हुए भी 'अच्छाई', 'दयालुता' आदि अर्थ अभिव्यक्त करते है अर्थात् 'अच्छा' शब्द के स्थानापन्न वन चुके हैं ।

अतः उन भाषाओं में 'सुन्दर विचार', 'सुन्दर कार्य' या 'सुन्दर संगीत' ऐसी अभिव्यक्तियों का प्रयोग एक दम स्वाभाविक हो गया है । उन भाषाओं में अब ऐसा कोई उपयुक्त शब्द है नही जिसके द्वारा स्पष्टतया रूपात्मक सौदर्य का संकेत दिया जा सके । अतः उस विचार के प्रेपणार्थ वे 'देखने में सुन्दर' इत्यादि शब्द समुदायों का प्रयोग करती हैं ।

रूसी भाषा में और इस सौदर्यवादी सिद्धांत द्वारा अभिभूत यूरोपीय भाषाओं में 'सौंदर्य' और 'सुन्दर' के प्रचलित विभिन्न अर्थों का निरीक्षण यह दिखाता है कि उनमें 'सौंदर्य' शब्द ने एक विशेप अर्थ ग्रहण कर लिया है, अर्थात् 'अच्छा' ।

ध्यान देने की वात यह है कि जव से हम रूसियों ने कला संवंधी यूरोपीय मत को मानना प्रारम्भ किया है, तव से वही परिवर्तन हमारी भाषा में भी होने लगा है और कुछ लोग विना आश्चर्य में पड़े पूरे विश्वास के साथ सुन्दर संगीत और भद्दे काम, यहाँ तक कि सुन्दर और भद्दे विचारों के विषय में वोलते और लिखते हैं; जवकि ४० वर्प पहले, जव मैं युवक था, 'सुन्दर संगीत' और 'भद्दे काम' ऐसे शब्द समूह न केवल प्रयोग में न थे वल्कि दुर्वोध भी थे । प्रत्यक्ष ही योरपीय विचारधारा द्वारा प्रदत्त 'सौदर्य' का यह नया अर्थ रूसी समाज द्वारा मान्य होता जा रहा है ।

और वास्तव में यह अर्थ है क्या ? यह 'सौंदर्य'—जिस रूप में योरपीयों द्वारा समझा जाता है—क्या है ?

इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए मैं यहाँ सौदर्य की उन परिभाषाओं में से कुछ को अवश्य उद्धृत करूँगा जो वर्तमान सौंदर्यवादी पद्धतियों में मान्य हैं । मैं पाठकों से प्रार्थना करूँगा कि इसकी अरोचकता से न घवराएँ वल्कि इसे अच्छी तरह पढ़ें, अच्छा तो हो कि सौंदर्यवादी विद्वान् लेखकों में से किसी एक का साहित्य पढ़ें । जर्मन सौंदर्यवादियों के विशाल ग्रथों के अलावा इस प्रयोजन के लिए एक वड़ी अच्छी पुस्तक है कैलिक की जर्मन पुस्तक, नाइट का अंग्रेजी ग्रंथ या लेवेक की फ्रेंच पुस्तक । इस महत्त्वपूर्ण विपय में अन्यों के विवरण पर विश्वास करना ठीक नहीं, अतः विभिन्न सम्मतियो तथा इस

क्षेत्र में विद्यमान भयंकर अस्पष्टता की एक रूपरेखा बनाने के लिए यह आवश्यक है कि सौदर्यवादी विद्वानों में से कम से कम किसी एक की पुस्तक अवश्य पढ़ी जाय ।

सौन्दर्य-शास्त्र पर अपनी प्रसिद्ध, वृहत्काय और विशद पुस्तक की प्रस्तावना में जर्मन सौदर्यवादी शैसलर ने कहा है:—

'मुश्किल से ही दार्शनिक विज्ञान के किसी क्षेत्र में हम अनुसधान और व्याख्या के इतने विभिन्न प्रकार पाएँगे जितने कि सौंदर्य-शास्त्र के क्षेत्र में। ये प्रकार कभी-कभी आत्म-विरोधी भी होते हैं । एक ओर तो हम एकतरफा छिछलेपन से पूरित, तथ्यहीन सुन्दर शब्दावली पाते हैं; और दूसरी ओर अनुसधान की अस्वीकार्य गहराई और विषय-वस्तु के वैभव के साथ दार्शनिक शब्दावली का घृणोत्पादक भोंडापन—जहाँ सरलतम विचारो को सूक्ष्म विज्ञान के परिधान में लपेटा जाता है, मानों इस पद्धति के पुण्य-प्रासाद में प्रवेश पाने योग्य उन्हें बनाया गया हो; और अतत. अन्वेपण और निरूपण के इन दो प्रकारो के बीच एक तीसरा प्रकार है : नैतिक समाहार: जो एक प्रकार से दूसरे तक का संक्रमण पथ है—कभी वैभवशाली शब्दावली का और कभी पाडित्यपूर्ण विद्वत्ता का प्रदर्शन करता हुआ । निरूपण की वह शैली जो इन तीन दोषो से मुक्त हो, वस्तुत. ठोस हो और महत्वपूर्ण विषय-वस्तु को स्पष्ट और जनप्रिय दार्शनिक भाषा में व्यक्त करती हो—और कहीं भले ही पाई जाय, परन्तु सौदर्य-शास्त्र के क्षेत्र में तो बहुत कम प्राप्य है ।'*

शैसलर के इस विचार की न्याय्यता के प्रति विश्वस्त होने के लिए उनकी पुस्तक ही पढ़नी चाहिए ।

उसी विषय पर फ्रेंच लेखक वेरोन ने सौदर्य-शास्त्र सबधी अपनी उत्तम पुस्तक की भूमिका में कहा है, 'सौंदर्य-विज्ञान से अधिक कोई भी विज्ञान तत्वचिंतको के स्वप्नो को नही सौंपा गया । प्लैटो से लेकर अब तक के प्राप्त सिद्धातो तक लोगो ने कला को तत्वपूर्ण कल्पनाओ और आध्यात्मिक रहस्यो का विचित्र मिश्रण बना दिया है जिनकी श्रेष्ठतम अभिव्यक्ति उस आदर्श सौंदर्य की धारणा में है जो वास्तविक वस्तुओ का स्वर्गिक और अपरिवर्तनीय प्रतिरूप है ('सौदर्य-शास्त्र' १८७८, पृ० ५) ।

---

* शैसलर कृत 'सौंदर्य निरूपण' में पृ० १३, खण्ड प्रथम, वर्ष १८७२ ।

यदि पाठक कष्ट सह कर सौंदर्य की परिभाषा करनेवाले सौंदर्य-शास्त्र के प्रमुख विद्वानो के निम्नांकित उद्धरणों को पढ़ें तो उन्हे विश्वास हो जायगा कि यह भर्त्सना एकदम उचित है।

सुकरात, प्लैटो, अरस्तू और प्लोटिनस प्रभृति अन्य अनेक प्राचीनों द्वारा दी गई सौंदर्य की परिभाषाएँ मै नही उद्धृत करूँगा क्योकि वास्तव मे प्राचीनो को शिव से असम्पृक्त उस सौदर्य की धारणा न थी जो इस युग के सौंदर्य-शास्त्र का लक्ष्य और आधार है। सौंदर्य की अपनी धारणाओ के सबधमे प्राचीनों के एतद्विपयक निर्णयों का हवाला देकर हम उनके शब्दों को वह अर्थ प्रदान कर बैठते है जो उन्हें अभिप्रेत न था।*

तीसरा परिच्छेद

सौंदर्य सम्बन्धी विभिन्न सिद्धांतों का संक्षेप और उसकी बामगार्टेन से लेकर आज तक की परिभाषाएँ।

[यह परिच्छेद प्रदर्शित करता है कि कला की कोई सतोषप्रद परिभाषा नहीं बनी, परन्तु इस परिच्छेद को बहुत से पाठक या तो छोड़ देना चाहेंगे या सरसरी तौर से देख लेना चाहेंगे। इसमें ताल्स्ताय के अपने विचार नहीं है, हैं भी तो निषेधात्मक रूप से टिप्पणियों में।]

मै सौदर्य-शास्त्र के संस्थापक बामगार्टेन से प्रारभ करता हूँ (१७१४-६२)!

बामगार्टेन के अनुसार † तार्किक ज्ञान का लक्ष्य सत्य है और रागात्मक (इन्द्रियात्मक) ज्ञान का लक्ष्य सौदर्य है। इन्द्रियो द्वारा ज्ञेय परब्रह्म सौदर्य है; तर्क द्वारा ज्ञेय ब्रह्म सत्य है; नैतिक संकल्प द्वारा गम्य ब्रह्म शिव है।

* इस विषय पर बर्नार्ड की स्तुत्य कृति 'सौंदर्य-शास्त्र और अरस्तू' और वाल्टर का भी ग्रंथ देखिए।

† शैसलर, पृ० ३६१।

वामगार्टेन ने सौंदर्य को 'संबंध' कहकर परिभाषित किया है अर्थात् पूर्ण के प्रति संबंध। सौंदर्य का लक्ष्य आनंदित करना और एक कामना उत्पन्न करना है। (कैण्ट की सौंदर्य संबंधी परिभाषा और लक्षण के एकदम विपरीत यह विचार है।)

सौंदर्य के व्यक्त रूपों के सम्बन्ध में वामगार्टेन का विचार है कि सौंदर्य की उच्चतम प्रतिकृति हमें प्रकृति में दिखाई पड़ती है और इसीलिए वह समझते हैं कि कला का उच्चतम लक्ष्य है प्रकृति की अनुकृति करना। (अधुनातन सौंदर्यशास्त्रियों के निष्कर्षों द्वारा यह सिद्धांत भी खण्डित हो जाता है)।

वामगार्टेन के साधारण अनुयायियों ने—मायर, एस्चेनबर्ग, और एबरहर्ड ने—अपने गुरु के सिद्धांत में थोड़ा ही संशोधन किया अर्थात् सुन्दर को सुखद से अलग किया। अतः इन्हें छोड़ कर वामगार्टेन के ठीक परवर्ती उन लेखकों के उद्धरण मैं दूंगा जिन्होंने एक दम दूसरे प्रकार से सौंदर्य की परिभाषा की। ये लेखक थे—सल्जर, मेंडेलसोह्न और मोरित्ज। वामगार्टेन की प्रमुख स्थापना के प्रतिकूल उन लोगों ने कला का लक्ष्य सौंदर्य को नहीं, शिव को माना। इस प्रकार सल्जर (१७२०-७७) का कथन है कि उसी वस्तु को सुन्दर माना जा सकता है जिसमें शिव भी समन्वित हो। उनके मतानुसार मानवजाति के संपूर्ण जीवन का लक्ष्य है सामाजिक जीवन का कल्याण। नैतिक भावनाओं के संस्कार से इसकी उपलब्धि होती है और इसी लक्ष्य का अनुवर्ती कला को होना चाहिए। सौंदर्य वह है जो इस भावना को जगाए और संस्कृत करे।

करीब-करीब उसी प्रकार मेंडेलसोह्न (१७२९-८६) द्वारा भी सौंदर्य को समझा गया है। उनके अनुसार, भावना द्वारा अस्पष्टतया स्वीकृत 'सुन्दर' की तब तक विवर्धना ही कला है, जब तक वह सत्य और शिव न हो जाय। कला का लक्ष्य है नैतिक परिपूर्णता।*

इस निकाय के सौंदर्यशास्त्रियों के लिए सौंदर्य का आदर्श है—सुन्दर शरीर में सुन्दर आत्मा। अतः ये लोग वामगार्टेन कृत पूर्ण (ब्रह्म) के तीन विभाजन—सत्य, शिव, सुन्दर—को एकदम हवा में उड़ा देते हैं; और सौंदर्य फिर शिव और सत्य में विलीन हो जाता है।

---

* शैसलर, पृ० ३६६।

परन्तु परवर्ती सौंदर्यशास्त्रियों द्वारा न केवल यह धारणा अमान्य ही रही वल्कि, विंकेलमैन का सिद्धात उत्पन्न हुआ जो एकदम इसके विपरीत है। कला के लक्ष्य को शिव के लक्ष्य से वड़े तीखेपन तथा शक्तिशाली ढंग से यह सिद्धात अलग करता है, और वाह्य सौंदर्य को कला का लक्ष्य घोषित करता है, यहाँ तक कि कला को दृश्यमान सौंदर्य तक ही सीमित कर देता है।

विंकेलमैन के प्रसिद्ध ग्रंथ (१७१७-६७) के अनुसार सारी कला का विधान और लक्ष्य केवल सौंदर्य है—शिव से एकदम स्वतत्र और असंपृक्त सौदर्य। तीन प्रकार का सौदर्य होता है:—(१) रूप का सौदर्य, (२) विचार का सौंदर्य जो रूप में अभिव्यक्त होता है (प्रगतिशील कला मे), (३) अभिव्यक्ति का सौंदर्य, इसकी उपलब्धि तभी संभव है जव पूर्वोक्त दो शर्तें उपस्थित हों। अभिव्यक्ति का यह सौंदर्य कला का महत्तम लक्ष्य है और प्राचीन कला में प्राप्य है; अत: आधुनिक कला प्राचीन कला के अनुकरण को अपना लक्ष्य वनाए।*

इसी प्रकार कला को लेसिंग तथा हर्डर ने समझा और उनके वाद गेटे ने और जर्मनी के सभी विशिष्ट सौवर्यशास्त्रियों ने समझा। कैंट के युग से एक विभिन्न कला सिद्धात उत्पन्न हुआ।

इस काल में इंग्लैंड, फ्रास, इटली और हालैंड मे सौदर्य संवंधी स्वदेशी सिद्धांतों का उदय हुआ, जो यद्यपि जर्मन पण्डितों से न लिए गए थे तथापि तद्वत् अस्पष्ट और विरोधी थे। और इन सभी लेखकों ने, जर्मन सौदर्यशास्त्रियों की तरह, 'सुन्दर' के आधार पर अपने सिद्धातों की स्थापना की। इन्होंने सौंदर्य को ऐसी वस्तु समझा जो निर्विकल्प रूपसे स्थित है और न्यूनाधिक शिव से समन्वित है अथवा एक ही स्रोत से दोनों उत्पन्न होते है। इंग्लैंड में वामगार्टेन के कुछ ही पहले शैफ्ट्सवरी, हचेसन, होम, वर्क, होगार्थ और अन्यों ने कला के विषय में लिखा।

शैफ्ट्सवरी (१६७०-१७१३) के अनुसार 'जो सुन्दर है वह सम और सुडौल है, जो सम और सुडौल है वह सत्य है और जो सुन्दर तथा सत्य है अंतत: वह स्वीकार्य और शिव है।† ,उन्होने कहा कि सौंदर्य मस्तिष्क द्वारा ही ज्ञेय है। ईश्वर आदि सौदर्य है; एक ही स्रोत से सौंदर्य और शिव उद्भूत होते है।

---

* वही, पृ० ३८८-९०।

† 'सुन्दर की मीमांसा' नाइट, खंड १, पृ० १६५, १६६।

फलतः यद्यपि शैफ्ट्सवरी सौंदर्य को शिव से अलग कोई वस्तु मानते हैं, तथापि ये दोनो तत्त्व फिर किसी अविच्छेद्य तत्त्व में विलीन हो जाते हैं।

हचेसन के अनुसार (१६९४-१७१७—"सौंदर्य और पुण्य सम्बन्धी हमारी धारणाओ के मूल का अन्वेषण") कला का लक्ष्य सौन्दर्य है जिस का सार हममें एकरूपता तथा विविधता की चेतना को जगाने में निहित है। कला के परिज्ञान में 'एक भीतरी वुद्धि' हमारा पथ-प्रदर्शन करती है। यह भीतरी वुद्धि नैतिक वुद्धि की विरोधिनी हो सकती है। अतः हचेसन के अनुसार सौन्दर्य सदैव शिव-समन्वित नही होता, वल्कि शिव से अलग रहता है और कभी-कभी उसके प्रतिकूल रहता है।*

होम के अनुसार (१६९६-१७८२) सौन्दर्य वह है जो सुखद हो। अतः सौन्दर्य की परिभाषा केवल रुचि कर सकती है। सच्ची रुचि का मानदण्ड यह है कि अल्पाति अल्प सीमाओ में अधिकतम समृद्धि, पूर्णता, शक्ति और प्रभाव की विविधता रक्खी जाय। प्रपूर्ण कलाकृति का यही आदर्श है।

वर्क के अनुसार (१७२९-१७९७—"उदात्त और सुन्दर संबंधी हमारे विचारो के मूल का दार्शनिक अनुसंधान") उदात्त और सुन्दर, जो कला के लक्ष्य हैं, आत्मरक्षण और समाजरक्षण की प्रेरणाओ से उत्पन्न होते हैं। यदि इन भावनाओ के मूल पर हम दृष्टिपात करें, तो देखेंगे कि ये व्यक्ति के माध्यम से समाज की रक्षा को साधन हैं। प्रथम अर्थात् आत्मरक्षण तो पोषण, सुरक्षा, और युद्ध से उपलब्ध होता है; द्वितीय अर्थात् समाज, संपर्क और गोत्रवृद्धि से। अतः आत्मरक्षा और युद्ध, जो कि उदात्त से जुड़े हुए हैं, उदात्त के उद्गमस्थल हैं; सामाजिकता और काम प्रवृत्ति, जो सौन्दर्य से जुडी हैं, सौन्दर्य की उद्गम भूमि हैं।†

अठारहवीं शती में कला और सुन्दरता की ये प्रमुख परिभाषाएँ थीं।

उसी काल में फ्रांस में कला पर लिखनेवाले थे पीयर ऐन्द्रे और वैटो। इनके कुछ ही समय वाद हुए डिडरो, डिऐलम्वर्ट और किसी हद तक वाल्तेयर।

पीयर ऐन्द्रे के अनुसार ('सौन्दर्य व्याख्या' १७४१), तीन प्रकार का सौन्दर्य होता है—स्वर्गिक सौन्दर्य, प्राकृतिक सौन्दर्य और कृत्रिम सौन्दर्य।‡

---

* शैसलर, पृ० २८९; नाइट, पृ० १६८-६९।

† आर० क्रौलिक, पृ० ३०४--३०६। ‡ नाइट, पृ० १०१।

बैटो के अनुसार (१७१३-८०) कला का लक्ष्य है आनन्द प्रदान करना, अतः प्रकृति की अनुकृति में कला निहित है।[1] डिडरो की कला परिभाषा ऐसी ही है।

अंग्रेज लेखकों की तरह फ्रेंच लेखकों का भी यही मत है कि सौन्दर्य का निर्धारण रुचि करती है; और रुचि के नियम न तो कही लिखे गए है और न उनका निर्धारण ही संभव है—यह सभी लोग मानते है। डिऐलम्वर्ट और वाल्तेयर का भी यही मत था।[2]

पैगानो के अनुसार, जो उस युग का इटैलियन सौन्दर्यशास्त्री था, प्रकृति में विकीर्ण सुन्दरताओ का समन्वय ही कला है। इन सुन्दरताओं को समझने की योग्यता रुचि है, और उन्हें प्रपूर्ण एक में समन्वित करना कलात्मक प्रतिभा है। सौन्दर्य शिव में विलीन हो जाता है अतः दृश्यमान बनाया गया शिव सौन्दर्य है, और शिव आंतरिक सौन्दर्य है।[3]

अन्य इटैलियनों की सम्मति के अनुसार कला अहभाव है जो हमारी आत्मरक्षण और समाज की अभिलाषा पर स्थापित है। बर्क का भी यही मत था। इस मत के समर्थक थे—मुरंतरी (१६७२-१७५०) और विशेषकर स्पैलेटी (१७६५)।[4]

डच लेखकों में हेफ्टरहुई (१७२०-९०), जिनका प्रभाव जर्मन सौन्दर्य-शास्त्रियों और गेटे पर पड़ा, उल्लेखनीय है। उनके अनुसार सौन्दर्य वह है जो अत्यधिक सुख दे और वही वस्तु अधिक सुख देती है जो हमें अत्यल्प समय में अधिकतम संख्या मे प्रज्ञान देती है। सौन्दर्य का उपभोग उच्चतम सिद्धि है जिसे मनुष्य प्राप्त कर सकता है, क्योकि अल्पतम समय मे यह अधिकतम मात्रा में प्रज्ञान प्रदान करता है।[5]

पिछली शती में जर्मनी से बाहर ये सौन्दर्य सम्बन्धी सिद्धांत प्रचलित थे। जर्मनी मे विकेलमैन के बाद फिर एक पूर्णतः नवीन सिद्धांत उठा, जो सबसे अधिक यह स्पष्ट करता है कि सौन्दर्य की और कला की यह धारणा वस्तुतः क्या है। इसके प्रवर्तक थे कैंट (१७२८-१८०४)।

---

१. शैसलर, पृ० ३१६। २. नाइट, पृ० १०२-४।
३. आर० कैलिक, पृ० १२४। ४. शैसलर, पृ० ३२८।
५. शैसलर, पृ० ३३१-३३।

कैंट की सौन्दर्य सम्बन्धी शिक्षा निम्नलिखित रूप से स्थापित है : मनुष्य को अपने से वाह्य प्रकृति में अपने अस्तित्व का ज्ञान है। अपने से वाह्य प्रकृति में वह सत्य की खोज करता है; अपने भीतर वह शिव की खोज करता है। प्रथम प्रयत्न शुद्ध तर्क बुद्धि का है, द्वितीय प्रयत्न व्यावहारिक बुद्धि का, मुक्त चिंतन का। निरीक्षण के इन दो साधनों के अलावा निर्णय की योग्यता भी है जो विना तर्क किये निर्णय करती है और विना कामना के आनन्द उत्पन्न करती है। यह योग्यता सौंदर्यप्रिय भावना का आधार है। कैंट के अनुसार सौंदर्य अपने व्यक्ति-परक अर्थ में वह है, जो विना किसी तर्क या व्यावहारिक लाभ के सदैव और अवश्य आनद प्रदान करता है; और अपने वस्तुनिष्ठ अर्थ में, अपने प्रयोजन के उपयुक्त यह उस पदार्थ का रूप है, जो उपयोगिता रहित होने पर भी देखा जाय।[1]

इसी तरह कैंट के अनुयायियो ने भी सौंदर्य की परिभाषा की है। इनमें शिलर (१७५६–१८०५) भी थे, जिन्होंने सौंदर्यशास्त्र पर बहुत कुछ लिखा। उनके अनुसार कला का लक्ष्य सौन्दर्य है, जिसका उद्‌गम स्थल है वह आनंद जो व्यावहारिक लाभ से रहित हो। कैंट का भी यही मत था। अर्थात् कला को एक खेल कहा जा सकता है—नगण्य पेशे के रूप में नही, वल्कि स्वयं जीवन के सौन्दर्यों के प्रकटीकरण के रूपमे, जिसका लक्ष्य सौन्दर्य के सिवा और कुछ न हो।[2]

शिलर के अतिरिक्त, सौन्दर्य विज्ञान में कैंट के मतानुयायियो में सर्वाधिक उल्लेख्य थे विलहेम हम्वोल्ट, जिन्होंने यद्यपि सौन्दर्य की परिभाषा में कोई वृद्धि नही की तथापि इसके विविध रूपों—नाटक, संगीत, विनोद आदि—की व्याख्या की।[3]

कैंट के वाद, द्वितीय श्रेणी के विचारकों के वाद, फिश्ते, शेलिंग, हीगेल और उनके अनुयायियो ने कला पर लिखा।

फिश्ते (१७६२–१८१४) का कथन है कि सौन्दर्य दृष्टि इस तरह प्रभूत होती है : संसार—अर्थात् प्रकृति—के दो पक्ष हैं : हमारी सीमाओं का पुंज और हमारी मुक्त, आदर्शवादी कार्यावली का पुंज। प्रथम में संसार सीमावद्ध

१. शैसलर, पृ० ५२८–२८। २. शैसलर, पृ० ७४०–४३।
३. नाइट, पृ० ६१–६३।

है, द्वितीय में स्वतंत्र है। प्रथम पक्ष में प्रत्येक वस्तु सीमित, विकृत, संक्षिप्त, संकुचित है—और हम कुरूपता देखते हैं; द्वितीय पक्ष में, इसकी आंतरिक संपूर्णता, स्फूर्ति एवं पुनरुत्थान देखते हैं—और यही सौन्दर्य है। इस तरह फिश्ते के अनुसार किसी वस्तु की कुरूपता अथवा सुन्दरता दर्शक के दृष्टिकोण पर निर्भर है। अतः सौन्दर्य संसार में नही वल्कि सुन्दर आत्मा में प्राप्य है। कला इस सुन्दर आत्मा का व्यक्तरूप है, और इसका लक्ष्य है संस्कार करना, केवल मस्तिष्क का ही नही—यह कार्य तो संत-महात्माओ का है; केवल हृदय का भी सुधार नही, क्योकि यह कार्य सदाचारउपदेशक का है, वल्कि संपूर्ण मानवी व्यक्तित्व का सस्कार करना कला का लक्ष्य है। अतएव सौन्दर्य का लक्षण किसी वाह्य वस्तु में नही वल्कि कलाकार में स्थित सुन्दर उसकी आत्मा मे है।[१]

फिश्ते के वाद और उसी दिशा के अनुयायी फ्रेडरिक श्लेगेल और ऐंडेम मूलर ने भी सौन्दर्य की परिभाषा दी। श्लेगेल के अनुसार (१७७२–१८२९) कला के सौन्दर्य को लोग अपूर्णता, एकांगिता, असम्वद्धतापूर्वक समझते है। सौन्दर्य केवल कला मे ही नही निहित है, वल्कि प्रकृति और प्रेम में भी है; अतएव जो वस्तु वस्तुत. सुंदर है उसका प्रादुर्भाव कला, प्रकृति और प्रेम के योग से होता है। इसलिए श्लेगेल नैतिक और दार्शनिक कला को सौन्दर्यात्मक कला से अभिन्न रूप में देखता है।[२]

ऐंडेम मूलर के अनुसार (१७७९–१८२४) सौन्दर्य दो प्रकार का है: प्रथम—सर्वमान्य सौदर्य जो लोगों को उसी तरह आकृष्ट करता है जिस तरह सूर्य अपनी ओर ग्रहों को आकर्षित करता है। यह प्रमुखतः प्राचीन कला में प्राप्य है। और द्वितीय—वैयक्तिक सौदर्य स्वयं द्रष्टा से उत्पन्न होता है—मानों वह सौदर्य को आकर्षित करने वाला सूर्य है। यही आधुनिक कला का सौंदर्य है। संसार, जिसमें सभी विरोधी तत्व समन्वित हो जाते हैं, परम सौंदर्यवान हैं। प्रत्येक कलाकृति इस सार्वभौम समन्वय की पुनरावृत्ति हैं।[३] सर्वश्रेष्ठ कला जीवन की कला है।[४]

फिश्ते और उसके अनुयायियों के वाद उसके एक समसामयिक, दार्शनिक शेलिंग (१७७५–१८४५) का वहुत वड़ा प्रभाव इस युग की सौंदर्य भावना

---

१. शैसलर, पृ० ७६९–७१।　　२. शैसलर, पृ० ७८६–८७।

३. क्रैलिक, पृ० १४८।　　४. क्रैलिक, ृ० ८२०।

संबंधी धारणाओं पर पड़ा। उनके मतानुसार कला पदार्थ विषयक उस धारणा का फल है जिसके द्वारा विषय (व्यक्ति) स्वयं अपनी ही वस्तु (लक्ष्य) बन जाता है और वस्तु अपना ही विषय बन जाती है। सान्त में अनन्त का दर्शन सौंदर्य है और कलाकृतियों का प्रमुख लक्षण है अनन्तता। कला व्यक्ति-परक और वस्तु-परक का योग है, प्रकृति और बुद्धि का योग है, अचेतन और चेतन का योग है। अतः कला ज्ञान का श्रेष्ठतम साधन है। प्रतिकृति के रूप में रहनेवाली चीजों का ध्यान ही सौंदर्य है। कलाकार अपने ज्ञान और कौशल से सौंदर्य की सृष्टि नहीं करता, बल्कि उसके भीतर की सौन्दर्य भावना सौन्दर्य की सृष्टि करती है।[1]

शेलिंग के अनुयायियों में सर्वाधिक उल्लेख्य सोल्जर (१७८०–१८१९) था। उसके अनुसार सौन्दर्य की भावना प्रत्येक वस्तु की प्राथमिक कल्पना है। संसार में हम मूल कल्पना की विकृति मात्र देख पाते हैं, परन्तु कल्पना के द्वारा कला अपने को इस धारणा के चरमोत्कर्ष तक पहुँचा सकता है। अतएव कला सर्जना की सजातीय है।[2]

शेलिंग के दूसरे अनुयायी क्रास (१७८१–१८३२) के अनुसार, भावना का व्यक्तिगत रूप में आविर्भाव ही सच्चा, वास्तविक सौंदर्य है; मनुष्य की मुक्तात्मा में अवस्थित सौंदर्य का वास्तवीकरण कला है। कला का महत्तम सोपान जीवन की कला है, जो कला व्यापार को जीवन के शृंगार में नियोजित करती है ताकि जीवन सुन्दर मनुष्य के लिए सुन्दर निवासस्थान बन सके।[3]

शेलिंग और उसके अनुयायियों के बाद हीगेल का नया सौंदर्य-सिद्धान्त आविर्भूत हुआ, जो अब तक बहुतों द्वारा सज्ञान रूप से मान्य है और बहुसंख्यक समुदाय द्वारा अनजाने ही मान्य है। यह मत पूर्ववर्ती मतों से अधिक स्पष्ट और सुपरिभाषित हर्गिज नहीं है, संभवतः अधिक धुंधला और गूढ़ है।

हीगेल के अनुसार (१७७०–१८३१) ईश्वर अपने को प्रकृति में व्यक्त करता है और सौंदर्य के रूप में कला में अवतरित होता है। ईश्वर अपनी अभिव्यक्ति दो रूपों में करता है: वस्तु और विषय में—प्रकृति और आत्मा में।

---

१. शैसलर, पृ० ८२८–२९, ८३४–४१।
२. शैसलर, पृ० ८९१।
३. शैसलर, पृ० ९१७।

भावना का भौतिक पदार्थ में प्रकाशन सौंदर्य है। केवल आत्मा और तत्संबंधी वस्तुएँ वस्तुत: सुन्दर होती हैं, अतएव प्र ति का सौंदर्य आत्मा के स्वाभ विक सौंदर्य की छाया है—जो सुन्दर है वह आध्यात्मिक तत्त्वों से युक्त है। परन्तु यह आध्यात्मिक तत्त्व इन्द्रियात्मक रूप में दिखाई पड़े। आत्मा की इन्द्रियात्मक अभिव्यक्ति केवल छ या है, और यही छा ा सुन्दर की एकमात्र वास्तविकता ह। इस प्रकार भावना की इस छाया को सृष्टि कला है। और धर्म एवं दर्शनशास्त्र के सहयोग से मानव जाति की गंभीर समस्याओं तथा आत्मा के श्रेष्ठतम सत्यों के परिज्ञान और उनके प्रकाशन का साधन है।

हीगेल के मतानुसार सत्य और सौन्दर्य एक ही वस्तु है, अभिन्न है। भेद केवल यह है कि चेतना ही अपने अविकृत रूप में सत्य है और विचारगम्य है। यह चेतना, बाह्य रूप से अभिव्यक्त होने पर, बुद्धि के लिए न केवल सत्य अपितु सुन्दर भी हो जाती है। चेतना का व्यक्त रूप ही सौन्दर्य है।[1]

हीगेल के पश्चात् उनके कई मतानुयायी हुए : वीसे, आर्नल्ड रूज, रोजेनक्रैन्त्ज, थियोडोर विश्चेर इत्यादि।

वीसे के मतानुसार (१८०१–६७) सौन्दर्य के निर्विकल्प आध्यात्मिक सत्य का बाह्य, मृत, अचेतन भौतिक-पदार्थ में समावेश कला है। इस पदार्थ में सन्निविष्ट सौन्दर्य से असंपृक्त इसका दर्शन मात्र समस्त स्वतंत्र अस्तित्व का निषेध उपस्थित करता है।

वीसे का मत है कि सत्य की धारणा में ज्ञान के व्यक्तिनिष्ठ और वस्तुनिष्ठ पक्षों के बीच का विरोध निहित है, क्योंकि एक व्यक्तिगत अहं विश्वात्मा के दर्शन कर लेता है। यह विरोध एक विचार द्वारा दूर किया जा सकता है, जो उन सार्वभौमिक और व्यक्तिगत को एक में संयुक्त करता है, जो हमारी सत्य विषयक धारणाओं में अलग-अलग हो जाते हैं। ऐसी विचारधारा सर्वमान्य सत्य होगी। यही सर्वमान्य सत्य सौन्दर्य है।[2]

हीगेल के कट्टर अनुयायी रूज के अनुसार (१८०२–८०) चेतना का आत्मप्रकाशन सौन्दर्य है। आत्मा जब चिंतनमग्न होती है तब या तो पूर्णतः व्यक्त हो जाती है और तब उसकी वह पूर्ण अभिव्यक्ति सौन्दर्य है; यदि आत्मा

१. शैसलर, पृ० ९४६, १०८५, ९८४–८५, ९९०।

२. शैसलर, पृ० ९६६, ६५५, ९५६।

अपूर्ण रूप से व्यक्त होती है, तो उसे अपनी इस अपूर्ण अभिव्यक्ति को परिवर्तन करने की आवश्यकता का अनुभव होता है और तब वह रचनात्मक कला हो जाती है।[1]

विश्चेर के मतानुसार (१८०७–८७) ससीम वस्तु के रूप में सौन्दर्य भावना का रूपांतर है। भावना स्वयमेव अविभाज्य है, परन्तु विचारों की ऐसी शृंखला है जिन्हें आरोह—अवरोह की रेखाओं द्वारा व्यक्त किया जा सकता है। जितनी ऊँची भावना होगी उतना ही उसमें सौन्दर्य होगा; परन्तु निम्नतम में भी सौन्दर्य होगा क्योंकि वह उस शृंखला की एक अनिवार्य कड़ी है। भावना का श्रेष्ठतम रूप व्यक्तित्व है अतएव श्रेष्ठतम कला वह है, जिसका विषय श्रेष्ठतम व्यक्तित्व हो।[2]

ये सिद्धान्त हीगेल संप्रदाय के जर्मन सौन्दर्यशास्त्रियों के थे, परन्तु सौन्दर्य की विवेचना पर उनका एकाधिपत्य नही था। जर्मनी में, हीगेल संप्रदाय के मतों के साथ ही, सौन्दर्य की अन्य भी व्याख्याएँ हुईं जो न केवल हीगेल के प्रभाव से स्वतंत्र थीं (कि सौन्दर्य भावना का रूपांतर है), वरन् इस मत के एकदम विपरीत थी, इस मत का प्रतिवाद और उपहास करती थी। इस दिशा में दो नाम उल्लेख्य हैं—हर्बर्ट और शोपेनहावर।

हर्बर्ट के अनुसार (१७७३–१८४१) सौन्दर्य नाम की ऐसी कोई वस्तु नही हो सकती जो स्वतंत्र अस्तित्व रखती हो। अस्तित्व है तो केवल हमारी धारणा का और इस धारणा की आधारभूमि खोज निकालना जरूरी है। ये आधार हमारे मानसिक अनुभवों से सम्बन्धित हैं। कुछ ऐसे सबन्ध हैं जिन्हें हम 'सुन्दर' कहते हैं; और इन संबंधों का पता लगाना कला है, जो कि चित्र, शिल्प और स्थापत्य-कला में साथ रहते हैं; सगीत में अनुक्रम से और साथ; और काव्य में पूर्णतः सानुक्रम। पूर्ववर्ती सौन्दर्य-शास्त्रियों के ठीक विपरीत हर्बर्ट का मत है कि प्रायः वे पदार्थ सुन्दर होते हैं, जो कुछ भी व्यक्त नहीं करते, यथा इन्द्रधनुष, जो कि अपनी रेखाओं और रंगों के कारण सुन्दर है न कि आइरिस से, या नोआ के इन्द्रधनुष से पौराणिक सबन्ध के कारण।

हीगेल के दूसरे विरोधी शोपेनहावर थे जिन्होंने हीगेल की समस्त मान्यता को, उसकी सौन्दर्य सबन्धी स्थापनाओं को, अस्वीकार किया।

---

1. शैसलर पृ० १०१७। 2. शैसलर पृ० १०६५–६६।

शोपेनहावर के अनुसार (१७८८–१८६०) संकल्प संसार में कई स्वरों पर वस्तुमान् हो जाता है और यद्यपि स्तर जितना ऊँचा होगा उतना ही सुन्दर वह होगा तथापि प्रत्येक स्तर का अपना निजी सौन्दर्य है। अहंभावना का तिरोभाव और संकल्प के व्यक्त रूप के इन स्तरों में से किसी एक का चिंतन हमें सौन्दर्य का परिज्ञान कराता है। शोपनेहावर का कथन है कि प्रत्येक व्यक्ति के पास चेतना को विभिन्न स्तरों पर वस्तुमान् करने की क्षमता है। कलाकार की प्रतिभा में यह क्षमता कुछ बढ़ कर है। अत. वह श्रेष्ठतर सौन्दर्य को अभिव्यक्त कराती है।[१]

इन मान्य लेखकों के पश्चात् जर्मनी में कुछ कम प्रभावशाली और कम मौलिक लेखक हुए, हार्टमैन, कर्चमैन, श्नैस, और किसी हद तक हेमहोल्त्ज (सौन्दर्य शास्त्री के रूप में), बर्जमैन, जंगमैन और अन्य अनेक।

हार्टमैन के अनुसार (१८४२) सौन्दर्य बाह्य संसार में नहीं है, न तो स्वयं वस्तु में, न तो मनुष्य की आत्मा में, वरन् कलाकार द्वारा प्रसूत 'प्रतीति' में। वस्तु अपने में सुन्दर नहीं होती, वरन् कलाकार द्वारा सुन्दर बना दी जाती है।[३]

श्नैस के अनुसार (१७९८–१८७५) संसार में अपूर्ण सौन्दर्य अप्राप्य है। प्रकृति में इस ओर एक प्रयास अवश्य है। जो कुछ प्रकृति नही दे सकती वह कला देती है। प्रकृति में अप्राप्य समरसता से अभिज्ञ, मुक्त अह की शक्ति में कला दिखाई पड़ती है।[४]

कर्चमैन (१८०२–८४) ने प्रयोगात्मक सौन्दर्य विज्ञान पर लिखा। उनकी व्यवस्था में इतिहास के सभी तत्वों का योग एक दम सयोगवश होता है। इस प्रकार, उनके मतानुसार इतिहास के ६ क्षेत्र हैं:—ज्ञान-क्षेत्र, सम्पत्ति-क्षेत्र, सदाचार-क्षेत्र, विश्वास-क्षेत्र, राजनीति-क्षेत्र, सौन्दर्य-क्षेत्र—और सौन्दर्य-क्षेत्र की कार्यावली कला है।[५]

हेमहोलत्ज के मतानुसार (१८२१–९४), जिन्होने संगीत और सौन्दर्य के संबंध मे लिखा, अपरिवर्तनीय नियमों के पालन से ही संगीत में सौदर्य उपलब्ध होता है। ये नियम कलाकार को नही ज्ञात होते अतएव कलाकार

---

१. शैसलर पृ० १०९७–११००। २. शैसलर पृ० ११२४–११०७।
३. नाइट, पृ० ८१–८२। ४. नाइट, पृ० ८३।
५. शैसलर, पृ० ११२१।

के अनजाने ही सौंदर्य अवतरित हो जाता है और विश्लेपण से परे रहता है।[१]

वर्जमैन के अनुसार (जन्म १८४०) वस्तुमत्तापूर्वक सौन्दर्य की परिभाषा करना असम्भव है। सौन्दर्य व्यक्तिमत्तापूर्वक समझा जा सकता है, अत: सौन्दर्य-शास्त्र की समस्या यह है कि वह वताए कि किसे क्या पसन्द है।[२]

जगमैन के अनुसार (मृत्यु १८८५) प्रथमत: सौन्दर्य वस्तुओ का इन्द्रियातीत गुण है; द्वितीय, चिंतन मात्र से सौन्दर्य हमें आनदित करता है; और तृतीय, सौन्दर्य प्रेम की नीव है।[३]

आजकल फ्रास, इंग्लैड अन्य राष्ट्रो के प्रमुख प्रतिनिधियों के सौन्दर्य संवंधी सिद्धान्त निम्नलिखित हैं :—

फ्रास में इस अवधि में सौन्दर्य-शास्त्र के प्रमुख लेखक थे कज़िन, जोफ़ाय, पिक्टेट, रैवेसन, लेवेक।

कज़िन (१७९२–१८६७) सुधारक थे और जर्मन आदर्शवादियो के अनुयायी थे। उनके सिद्धान्त के अनुसार, सौन्दर्य का आधार सदैव सदाचारपूर्ण होता है। वे इसका विरोव करते हैं कि कला अनुकृति है और सौन्दर्य वह है जो आनदित करे। वे विश्वासपूर्वक कहते हैं कि सौन्दर्य की वस्तुमत्तात्मक परिभाषा की जा सकती है और अनिवार्यत· एक में अनेक की धारणा में सौदर्य स्थित है।[४]

कज़िन के वाद जोफ़ाय हुए (१७९६–१८४२), जो कज़िन के शिष्य और जर्मन सौदर्य-शास्त्रियो के भी मतानुयायी थे। उनकी परिभाषा के अनुसार अदृश्य का स्वाभाविक लक्षणो द्वारा प्रकाशन सौंदर्य है। दृश्य विश्व वह परिधान है, जिसके द्वारा हम सौंदर्य के दर्शन करते हैं।[५]

स्विस लेखक पिक्टेट ने हीगेल और प्लैटो की पुनरावृत्ति की। उनका विश्वास था कि स्वर्गिक चेतना जव इन्द्रियगम्य रूपो में अवतरित होती है, तव उस प्रत्यक्ष और स्वतन्त्र प्रकाशन में सौंदर्य समाविष्ट रहता है।[६]

लेवेक, शेलिंग और हीगेल के अनुयायी थे। उनका मत है कि प्रकृति के पीछे का कोई अदृश्य तत्त्व सौन्दर्य है—व्यवस्थापूर्ण शक्ति में एक आत्मा अथवा शक्ति का प्रकाशन।

---

१. नाइट, पृ० ८५, ८६।
२. नाइट, पृ० ८८।
३. नाइट, पृ० ११२।
४. नाइट, पृ० ८८।
५. नाइट, पृ० ८८।
६. नाइट, पृ० ११८–१९।

सौंदर्य पर इसी तरह की अस्पष्ट सम्मति फ्रेंच तत्त्वचिंतक रैविसन ने भी प्रगट की। वे सौंदर्य को संसार का महत्तम प्रयोजन और लक्ष्य समझते थे। 'सर्वाधिक स्वर्गिक और विशेषकर सर्वाधिक पूर्ण सौंदर्य में विश्व का रहस्य स्थित है।'[1] और फिर 'सारा संसार एक अविकल्प सौंदर्य की सृष्टि है।' सौंदर्य, पदार्थों में जो प्रेम प्रविष्ट करा देता है, उसी के द्वारा पदार्थों का कारण है।

मैं सोद्देश्य इन दार्शनिक अभिव्यक्तियों को मूल में उद्धृत कर रहा हूँ, क्योंकि जर्मन चाहे जितने भी दुर्बोध हों; फ्रेंच लोग, यदि एक बार जर्मनों की व्याख्या समझ लेते हैं और उनका अनुकरण करने लगते हैं तो एक वाक्य में अनेक विषम तत्त्वों को संयुक्त करने और अन्धाधुन्ध रूप से अनेकानेक अर्थ करने में वे जर्मनों को भी मात दे जाते हैं। उदाहरणार्थ, फ्रेंच विचारक लाचेलियर सौंदर्य पर विमर्श करते हुए कहते हैं: "हमें यह कहने में निर्भय होना चाहिए कि जो सुन्दर नहीं है वह हमारी बुद्धि का तार्किक खेल भर है, और ठोस और उल्लेख्य सत्य केवल सौंदर्य है।"

सौंदर्य-परायण आदर्शवादियों के अलावा, जिन्होंने जर्मन दर्शन के प्रभाव में लिखा और अब भी लिखते हैं, निम्नलिखित नवीन लेखकों ने भी फ्रांस में कला और सौंदर्य के बोध को प्रभावित किया है: तेन, गुयायू, चेरबुलीज, कोस्टर, और वेरोन।

तेन के अनुसार (१८२८–१८९३) सौंदर्य किसी महत्त्वपूर्ण विचार के अनिवार्य लक्षण का पूर्णतर प्रकाशन है। वास्तविकता में सौंदर्य इतना नहीं व्यक्त हो पाता। ('कला दर्शन' भाग १, १८९३, पृ० ४७)।

गुयायू (१८५४–१८८८) ने बताया कि सौंदर्य वस्तु से कुछ बाह्य नहीं है—उस पर उपजीवी तत्त्व नहीं है—बल्कि स्वयं उस वस्तु का क्रियात्मक प्रस्फुरण है जिसपर दिखाई पड़ता है। कला बुद्धिपरक और चेतन जीवन की अभिव्यक्ति है और हमारे भीतर अस्तित्व की गहरी चेतना, श्रेष्ठतम भावनाएँ और उच्चतम विचार उत्पन्न करती है। कला मनुष्य को उसके व्यक्तिगत जीवन से उठा कर विश्व-जीवन में अवस्थित करती है—समान विचारों और विश्वासों के ही नाते नहीं बल्कि भावनाओं के साम्य से भी।[2]

१. 'फ्रांस में दर्शनशास्त्र' पृ० २३२।

२. नाइट, पृ० १३९–१४१।

चेरवुलीज़ के अनुसार कला वह क्रिया है, जो (१) हमारी रूपासक्ति की तुष्टि करती है, (२) इन रूपो को विचारों से मुक्त करती है, (३) और हमारे हृदय, तर्क और ज्ञानेन्द्रियों को समान सुख देती है। सौंदर्य वस्तुओ में नही होता, वरन् हमारी आत्मा का एक व्यापार है। सौन्दर्य एक भ्रम है, अवि-कल्प सौन्दर्य नाम की कोई चीज नही। परन्तु जिसे हम समरस और विशिष्ट समझते हैं वही हमें सुन्दर प्रतीत होता है।

कोस्टर का मत था कि सुन्दर, शिव एवं सत्य की कल्पना जन्मजात है। ये कल्पनाएँ हमारे मस्तिष्क को आलोकित करती है और ब्रह्मस्वरूप है, जो स्वय सत्य-शिव-सुन्दर है। सौंदर्य की कल्पना में सार की एकता, विधायक तत्वों की विविधता, और व्यवस्था निहित रहती है जो जीवन के विविध व्यक्त रूपों में एकता लाती है।[1]

पूर्णता के लिए मै कला संबंधी नवीनतम साहित्य से कुछ उद्धरण और दूंगा।

१८९५ में प्रकाशित 'कला और सौन्दर्य की मीमासा' में, मैरियो पाइलो का कथन है कि सौन्दर्य हमारी शरीरी भावनाओ की उपज है। कला का लक्ष्य है आनंद, परतु कुछ कारणो से इस आनद को वह अनिवार्यतः वहुत अधिक सदाचारपूर्ण समझता है।

'समकालीन कला समीक्षा' में फाइरेंस गेवारेट का कथन है कि कला उस संवन्ध पर आधृत है जो उसके और अतीत के वीच है और उन धार्मिक आदर्श पर आधृत है जो अपनी कृति को व्यक्तित्व प्रदान करते समय कलाकार को मान्य था।

फिर सार पेलाडान की 'आदर्शवादी कला का रहस्य' (१८९४) के अनुसार सौन्दर्य ईश्वर के अनेक अवतरणो मे से एक है। ईश्वर के सिवा और कोई वास्तविकता नही, ईश्वर के सिवा और कुछ सत्य नही, ईश्वर के सिवा और कोई सौन्दर्य नही। यह पुस्तक वडी ऊलजलूल और अध्ययनहीन है; परतु अपनी स्थापनाओ के कारण विशिष्ट है, और इस कारण ध्यान देने योग्य है कि फ्रास की नई पीढी को किसी हद तक प्रिय है।

फ्रास मे अब तक का सौन्दर्य-शास्त्र का साहित्य एक-सा है, परतु उनमे वेरोन का 'सौंदर्य-शास्त्र' (१८७८) वुद्धिपरक और स्पष्ट होने के कारण अपवाद है।

---

१ नाइट, पृ० १३४।

यंह कृति यद्यपि कला की ठीक-ठीक परिभाषा नही देती, पर कम से कम सौन्दर्य-शास्त्र को अविकल्प सौन्दर्य की धुँधली धारणा से मुक्त करती है।

वेरोन के अनुसार (१८२५-१८८९) कला मनोवेग का प्रकाशन है जो रेखाओं, रगों, रूपों के योग से अथवा गति, ध्वनि, शब्दों के लयात्मक अनुक्रम से वाह्यत: प्रेषित होता है।[1]

इस अवधिमें इंग्लैंड मे सौन्दर्य-शास्त्र के लखकों ने सौन्दर्य की परिभाषा उसके निजी गुणों (लक्षणो) से नही वल्कि रुचि से दी है, और रुचि के ऊहापोह से सौन्दर्य-विमर्श दव गया है।

रीड के पश्चात् (१७०४-१७९६), जिन का मत था कि सौन्दर्य पूर्णत: द्रष्टा पर निर्भर है, ऐलिसेन ने यही वात अपने "रुचि सबंधी प्रकृति और सिद्धातों पर निवंध" (१७९०) मे कही। दूसरी ओर से यही वात इरैस्मस डारविन द्वारा समर्थित हुई (१७३१-१८०२), जो कि प्रख्यात चार्ल्स डार्विन के पितामह थे।

उनका कथन है कि हम उसे सुन्दर समझते हैं जो हमारी धारणा मे हमारे प्रेय से संबंधित है। रिचर्ड नाइट की पुस्तक "रुचि के सिद्धांतो की विश्लेषणात्मक गवेषणा" भी इसी का समर्थन करती है।

सौन्दर्य पर अधिकांश अंग्रेजी सिद्धांत भी इसी पद्धति पर है। १९ वीं शती में सौन्दर्य विज्ञान के प्रमुख लेखक थे चार्ल्स डार्विन (अंशत:), हर्वर्ट स्पेसर, ग्रांट ऐलेन, कर और नाइट।

चार्ल्स डार्विन के अनुसार (१८०९-१८८२—'मनुष्य की परंपरा'–१८७१) सौन्दर्य की भावना न केवल मनुष्यो के लिए स्वाभाविक है वल्कि पशुओ के लिए भी, अतएव मनुष्य के पूर्वजों के लिए भी स्वाभाविक है। चिडियाँ अपने घोसलो को सजाती हैं और अपने सहचर के सौन्दर्य की प्रशंसा करती हैं। सौन्दर्य का प्रभाव विवाहो पर पड़ता है। सौन्दर्य में अनेक विविध धारणाएँ निहित है। पुरुषों द्वारा स्त्रियो के वुलाए जाने में संगीत कला का उत्स है।

हवर्ट स्पेंसर के अनुसार (जन्म १८२०) खेल कला का मूल है। यह विचार पहले शिलर व्यक्त कर चुका था। लघु जीवों में जीवन की सारी शक्ति

---

१. 'सौंदर्य शास्त्र', पृ० १०६।

प्राण-रक्षा और जाति-रक्षा में व्यय हो जाती है; मनुष्य में इन आवश्यकताओं की पूर्ति के बाद भी कुछ अतिरिक्त शक्ति बच रहती है। यह आधिक्य (शक्ति का) खेल में प्रयुक्त होता है जो कला का रूप गहण कर लेता है। खेल वास्तविक क्रिया का अनुकरण है, कला भी यही है। सौन्दर्यात्मक आनंद के तीन तरह के स्रोत हैं:—(१) जो प्रभावित मन शक्तियों को आंदोलित करता है। उनमें आंदोलनातिरेक की अल्पतम खामियाँ रहें, (२) अधिक मात्रा में प्रेरणा का अंतर, जो स्पृहणीय भावना की दीप्ति जगाता है, (३) विशेष संगतियों के साथ उसी का पुनरुत्थान।[1]

टाड हंटर के 'सुन्दर का सिद्धांत' में (१८७२), सौन्दर्य असीम लालित्य है, जिसे हम बुद्धि द्वारा और प्रेमोत्साह द्वारा समझते हैं। सौन्दर्य परिज्ञान इस तरह का होने के कारण रुचि पर निर्भर है; इसके लिए कोई मानदंड नहीं हो सकता। परिभाषा का प्रयत्न संस्कृति मे प्राप्य है। (संस्कृति क्या है, इसकी परिभाषा नहीं की जा सकती।) प्रकृति से ही, कला—जो हमें रंग, रेखा, ध्वनि, शब्दो द्वारा प्रभावित करती है—अवशक्तियों की नहीं, वरन् बुद्धिपरक शक्तियों की उपज है, जो एक बुद्धिगम्य लक्ष्य की प्राप्ति हेतु पारस्परिक सहयोग करती हैं। सौन्दर्य विरोधों का सामंजस्य है।[2]

ग्राट ऐलेन स्पेंसर के अनुयायी थे और अपने ग्रंथ 'शारीरिक सौन्दर्य भावना' (१८७७), में उनका कथन है कि सौन्दर्य का स्रोत शारीरिक (भौतिक) है। सुन्दर के चिंतन से सौन्दर्यात्मक आनंद मिलते हैं, परन्तु सौन्दर्य-धारणा की प्राप्ति शारीरिक प्रक्रिया से होती है। कला का उत्स खेल है। जब शारीरिक शक्ति का आधिक्य होता है तब मनुष्य खेलों में संलग्न होता है, जब ग्रहण की शक्ति अधिक हो जाती है तब मनुष्य कला में संलग्न हो जाता है। सुन्दर वह है जो अल्पतम व्यय से अधिकतम स्फूर्ति दे। रुचि-विभिन्नता के कारण सौन्दर्य की समीक्षा में अंतर उत्पन्न होते हैं। रुचि परिमार्जित की जा सकती है। हमें 'सुसंस्कृत तथा परम विवेकशील व्यक्तियों' के निर्णयों में विश्वास करना चाहिए। ये लोग आगामी पीढ़ी का रुचि-निर्माण करते हैं।[3]

---

१. नाइट, पृ० २३९-४०। २ नाइट, पृ० २४०-४३।
३. नाइट, पृ० २५०-५२।

कर के 'कला-दर्शन पर निबंध' (१८८३) के अनुसार सौन्दर्य हमें सक्षम बनाता है कि हम वस्तुनिष्ठ संसार के एक खण्ड को अपने लिए बोधगम्य बना सकें और, जैसा कि विज्ञान में अनिवार्य है, इसके अन्य खण्डों के ध्यान से हैरान न हों। इस प्रकार कला सामंजस्य द्वारा एक और अनेक का, विधान और इसके व्यक्त रूप का, कर्ता और उसके कर्म का, द्वन्द्व नष्ट कर देती है। कला स्वतंत्रता की अभिव्यक्ति और सम्मानस्थापना है, क्योंकि यह अधकार और ससीम वस्तुओं की दुर्बोधता से मुक्त है।[1]

नाइट के 'सुन्दर का दर्शन-शास्त्र,' खंड द्वितीय के अनुसार (१८९३), सौदर्य कर्ता और कर्म का ऐक्य है, मनुष्य से संबंधित किसी तत्व का प्रकृति से ग्रहण है, और समस्त प्रकृति मे व्याप्त अनुभव का व्यक्ति में स्वीकार है।

कला और सौदर्य पर यहाँ उल्लिखित सम्मतियो के बाद भी, इस विषय पर लिखा गया साहित्य विपुल है। और प्रति दिन नये लेखक उदित होते है, सौंदर्य की परिभाषा पर जिनकी विचारणाओं में वही मोहमूलक उलझन और विरोध मिलता है। कुछ लोग गत्यवरोधवश थोड़े हेर-फेर के साथ बामगार्टेन और हीगेल के रहस्यपूर्ण सौदर्य-सिद्धात का समर्थन करते जा रहे हैं; कुछ लोग इस प्रश्न को वैयक्तिकता के क्षेत्र को सौप देते है और सुन्दर का आधार रुचि के प्रश्नों में खोजते हैं; कुछ लोग—आधुनिकतम निकाय के सौंदर्य-शास्त्री—सौदर्य का मूल शरीर-विज्ञान के नियमों में खोजते है; और अंततः कुछ लोग पुनः इस प्रश्न की छान-बीन सौन्दर्य की धारणा से असंपृक्त रूपमें करते है। इस प्रकार सली अपने "ऐंद्रिक-चेतना और प्रवृत्ति : मनोविज्ञान और सौन्दर्य-विज्ञान का एक अध्ययन" नामक पुस्तक में (१८७४), सौन्दर्य की धारणा को एक दम अस्वीकार कर देते है, उनकी परिभाषा के अनुसार, कला किसी स्थायी वस्तु का अथवा गतिमान् क्रिया का उत्पादन है, जो निर्माता को क्रियात्मक आनंद, और दर्शकों और श्रोताओं को, इससे निस्सृत किसी व्यक्तिगत लाभ के बगैर, आनंदप्रद अनुभव देने के लिए उपयुक्त हो।[2]

१. नाइट, पृ० २५८-५९। २. नाइट, पृ० २४३।

चौथा परिच्छेद

[सौंदर्य पर आधृत कला की परिभाषाएँ—रुचि की परिभाषा असम्भव-एक स्पष्ट परिभाषा की आवश्यकता जो हमें कलाकृतियों के परिज्ञान में सक्षम बनाए ।]

सौन्दर्य की इन परिभाषाओं का क्या तात्पर्य है ? यदि हम सौन्दर्य की उन एकदम गलत परिभाषाओ को छोड़ दें जो कला विषयक धारणा की व्याख्या करने में विफल है और समझती है कि सौन्दर्य उपयोगिता में है, या एक प्रयोजन से सामञ्जस्य में है, या एकरूपता में है, या सुव्यवस्था मे है, या अनुपात में है, या सरलता में है, या खंडो के समन्वय में है, या अनेकता के बीच एकता में है, या इन सबके विविध गठबधनो में है—वस्तुपरक परिभाषा के इन असंतोषजनक प्रयत्नों को यदि हम छोड़ दें, तो देखेंगे कि सौन्दर्य की सभी सौन्दर्यवादी परिभाषाएँ हमें दो मूल धारणाओ की ओर ले जाती है । प्रथम यह है कि सौन्दर्य कोई ऐसी वस्तु है जो अपने आप में स्थित एक स्वतन्त्र सत्ता है, कि सौन्दर्य परम पूर्ण (ब्रह्म) भावना, आत्मा, संकल्प या ईश्वर के अनेक व्यक्त रूपो में से एक है; दूसरी यह है कि सौन्दर्य हमें प्राप्त एक प्रकार का आनद है जिसका लक्ष्य व्यक्तिगत लाभ नही ।

पहली परिभाषा के स्वीकर्ता थे फिख्ते, शेलिंग, हीगेल, शोपेनहावर और चिंतनशील फ्रांसीसी : कजिन, जोफ़ाय, रैवेसन आदि । द्वितीय श्रेणी के सौन्दर्यवादी विचारक तो समर्थक थे ही । और इस युग के शिक्षित वर्ग के बहुसंख्यक समुदाय को सौन्दर्य की यही रहस्यपूर्ण-वस्तुनिष्ठ परिभाषा मान्य है । यह धारणा व्यापक रूप से प्रचलित है—विशेषकर वयोवृद्ध पीढ़ी में । '

दूसरा मत, कि सौन्दर्य बिना किसी व्यक्तिगत लाभ के, हमारे द्वारा प्राप्त आनद है, सौन्दर्यविज्ञ अंग्रेज लेखकों द्वारा प्रमुख रूप से समर्थित है और हमारे समाज के दूसरे वर्ग द्वारा मान्य है, विशेषकर युवक पीढ़ी द्वारा ।

अतएव कला की केवल दो परिभाषाएँ हैं—(इससे अन्यथा और हो नहीं सकता) ' प्रथम—वस्तुनिष्ठ, रहस्यपूर्ण; इस धारणा को उच्चतम पूर्णता, ईश्वर की धारणा में विलीन करने वाली । यह निराधार परिभाषा सत्य से दूर है । द्वितीय, जो कि बहुत सरल है, सुबोध है—व्यक्तिनिष्ठ, जो उसे सौन्दर्य समझती

है जो आनंदित करे (मैं 'आनंदित करे' में य शब्द नहीं जोड़ता 'लाभ के उद्देश्य के वगर', क्योंकि 'आनंद' में स्वभावतः ही लाभ की भावना की अनुपस्थिति परिकल्पित है)।

एक ओर सौन्दर्य को रहस्यपूर्ण और वहुत उदात्त समझा जाता है, परंतु दुर्भाग्यवश साथ ही उसे वहुत अनिश्चित, फलतः दर्शनशास्त्र, धर्म और स्वयं जीवन से संवधित भी समझा जाता है (जैसा कि शेलिंग और हीगेल के और उनके जर्मन तथा फ्रांसीसी अनुयायियों के सिद्धान्तों में); या फिर दूसरी ओर (जैसा कि अनिवार्यतः कैंट और उसके अनुयायियों की परिभाषा से अभिप्रेत है), सौन्दर्य केवल एक प्रकार का स्वार्थहीन आनंद है। सुन्दरता की यह धारणा, यद्यपि यह वहुत स्पष्ट दीखती है, दुर्भाग्यवश फिर भी सही नहीं है; क्योंकि दूसरी ओर यह विस्तृत हो जाती है, अर्थात् इसमें मद्यपान, भोजन, कोमल त्वचा के स्पर्श आदि का सुख सन्निविष्ट है—जैसा कि गुयायू और क्रैलिक आदि ने स्वीकार किया है।

यह सच है कि सौन्दर्य के कला—सिद्धांतों के विकास के वाद हम देख सकते हैं कि यद्यपि पहले (जव सौन्दर्य-शास्त्र की नींव पड़ रही थी) सौन्दर्य की आध्यात्मिक परिभाषा ही मान्य थी तथापि ज्यों-ज्यों हम अपने युग के समीप पहुँचते हैं त्यों-त्यों एक प्रयोगात्मक परिभाषा सामने आ रही है (अभी कुछ समय हुआ इसने शारीरिक रूप ले लिया था)। फलतः अंत में हम वेरोन और सली ऐसे सौन्दर्यशास्त्रियों से परिचित होते हैं जो सौन्दर्य की धारणा से एकदम वचने का यत्न करते हैं। परन्तु ऐसे सौन्दर्यशास्त्री असफल हो गए; और वहुसंख्यक जन-समुदाय, स्वयं कलाकार गण और पण्डित-जन द्वारा तो दृढ़ रूप से सौन्दर्य की वही धारणा मान्य है जिसका मेल उन परिभाषाओं से वैठता है जो सौन्दर्य-शास्त्र के ग्रंथों में दी गई है, अर्थात् जो सौन्दर्य को या तो रहस्यपूर्ण या चिंतनगम्य या एक विशेष प्रकार का आनंदोपभोग मानती है।

तव सौन्दर्य की यह धारणा क्या है जो कला की परिभाषा के रूप में हमारे समय और परिचय के लोगों द्वारा इतनी दृढ़तापूर्वक मान्य है।

अपने व्यक्तिनिष्ठ रूप में सौन्दर्य वह है जो हमें एक विशेष प्रकार का आनंद प्रदान करता है।

हम किसी अविकल्प पूर्ण वस्तु को उसके वस्तुनिष्ठ रूप में सुन्दर कहते हैं, और हम उसे ऐसा इसलिए मानते हैं क्योंकि हम उस अविकल्प पूर्णता के व्यक्त

रूप से एक विशेष प्रकार का आनंद पाते है: अत: यह वस्तुनिष्ठ परिभाषा और कुछ नही बल्कि भिन्न रूप से व्यक्त की गई व्यक्तिनिष्ठ धारणा ही है। वास्तव में सौंदर्य की दोनों धारणाएँ एक ही अर्थ रखती है, अर्थात् हमें प्राप्त एक विशेष प्रकार का आनद; कहने का तात्पर्य यह कि हम सुन्दरता उसे कहते है जो हमारे भीतर लालसा जगाए विना हमें आनदित करे ।

इस स्थिति मे यह स्वाभाविक लगेगा कि कला, विज्ञान, सौन्दर्य (अर्थात् जो हमे आनंदित करे, उस) पर आधृत अपनी परिभाषा से सतुष्ट होना अस्वीकार कर दे, और एक सामान्य परिभाषा की मांग करे जो सभी कलात्मक रचनाओ पर लागू हो सके, जिसका हवाला देकर हम यह तै कर सकें कि अमुक वस्तु कला क्षेत्र की है अथवा नही। परन्तु ऐसी कोई परिभाषा नहीं मिलती, जैसा कि मेरे द्वारा दिए गए सौन्दर्य-सिद्धातो के साराशो से पाठक समझ सकते है, और यदि वे पढ़ने का कष्ट करें तो सौन्दर्यशास्त्र के मूल ग्रथो में भी स्पष्टतया यही देखेंगे। स्वतंत्र अस्तित्व के अविकल्प सौन्दर्य की परिभाषा के सारे प्रयत्न—चाहे प्रकृति की अनुकृति के रूप में, अथवा अपने लक्ष्य के प्रति सामंजस्य के रूप में, या खडो के समन्वय के रूप में, या एकरूपता के रूप में, या समस्वरता के रूप में, या विभिन्नता में एकता के रूप में—या तो किसी वस्तु की परिभाषा नही करते या कुछ कलात्मक रचनाओ के कुछ लक्षणो की परिभाषा कर देते है और उस सब की उपेक्षा कर जाते ह जिसे सबने हमेशा से अब तक कला माना है।

कला की कोई वस्तुनिष्ठ परिभाषा नही है। विद्यमान परिभाषाएँ (आध्यात्मिक और प्रयोगात्मक, दोनों) प्रकारातर से केवल व्यक्तिनिष्ठ परिभाषा ही ठहरती है, जिसका अर्थ यह है (यद्यपि ऐसा कहना आश्चर्यजनक है) कि कला वह है जो सौन्दर्य को अभिव्यक्त करती है और सौन्दर्य वह है जो आनदित करता है (बिना इच्छा जगाए हुए)। अनेक सौन्दर्यशास्त्रियो ने ऐसी परिभाषा की अपर्याप्तता और अस्थिरता महसूस की है और इसे एक दृढ़ आधार देने के निमित्त उन्होने अपने से यह प्रश्न किया है कि कोई वस्तु क्यो आनदित करती है। और उन्होने सौन्दर्य-विमर्श को रुचि के प्रश्न में बदल दिया है जैसे हचेसन, वाल्तेयर, डिडेरो, आदि। परतु यह बताने का यत्न करना कि कला क्या है, व्यर्थ है, जैसा कि पाठक सौन्दर्यशास्त्र के इतिहास से और प्रयोग पूर्वक देख सकता है। इनका कोई उत्तर न है, न हो सकता है कि क्यो कोई वस्तु किसी को प्रसन्न, किसी को अप्रसन्न करती है, या इनका विलोम क्यो

होता है; इस तरह विद्यमान सौन्दर्यशास्त्र का सारा विज्ञान वह मानसिक कार्य करने में विफल होता है जिसकी आशा हम इसके विज्ञान कहलाने के नाते रखते हैं—अर्थात्, यह कला का विधान और लक्षण नहीं बताता, न तो सुन्दर की परिभाषा करता है (यदि कला की वस्तु वही है), न तो रुचि का प्रकार परिभाषित करता है (यदि रुचि कला और उसके मूल्य का निर्णय करती है), और तब इन परिभाषाओ के आधार पर कला उन रचनाओं को समझिए जो इन नियमो का पालन करती है और उन रचनाओ को अस्वीकार कर दीजिए जो इन नियमों के अंतर्गत नही आती। परन्तु सौन्दर्यशास्त्र की यह व्याख्या पहले कुछ निर्दिष्ट रचनाओं को कला मानती है (क्योकि वे हमे प्रसन्न करती है), और तब कला का ऐसा सिद्धान्त स्थिर करती है जिसके अंतर्गत वे रचनाएँ आ सकें जो कुछ लोगो को प्रसन्न करती है। कला-विधान के अनुसार हमारे समाज द्वारा मान्य कुछ रचनाएँ कला के रूप मे स्वीकृत है—फिडियास, सोफोक्लीज, होमर, टिटियन, राफेल, बाच, बीथोवेन, दाते, शेक्सपियर, गेटे प्रभृति अन्यान्य की रचनाएँ—और सौन्दर्य संबंधी नियम एसे हों जो इन सबकी रचनाओं को अंतर्भुक्त कर लें। सौन्दर्य संबंधी साहित्य में आपको बराबर कला के गुण और महत्त्व पर सम्मत्तियाँ मिलेगी जो ऐसे नियमो पर आधृत नही है जिनके द्वारा कोई वस्तु अच्छी या बुरी मानी जाती है बल्कि इस विचार पर आधृत है कि यह कला उस कला विधान से मेल खाती है या नही जिसे हम लोगो ने बनाया है।

अभी एक दिन मै फोल्गेल्ट की रचित एक अच्छी पुस्तक पढ़ रहा था। कलाकृतियों में सदाचार की माँग पर विचार करते हुए लेखक ने स्पष्ट लिखा है कि हमें कला में सदाचार की माँग नहीं करनी चाहिए। और इसके प्रमाण में उनकी दलील यह है कि यदि हम ऐसी माँग को मान लेंगे तो शेक्सपियर का 'रोमियो और जूलियट' और गेटे का 'विलहेम मीस्टर' भद्र कला की परिभापा मे नही आ पाएँगे; परतु चूँकि ये दोनों पुस्तकें हमारे कला विधान में समाविष्ट है अतएव, उनका मत है कि, यह मांग अन्याय्य है। अतः यह आवश्यक है कि जो इन रचनाओं पर सटीक उतरे ऐसी कला परिभाषा खोजी जाय और सदाचार की माँग के बजाय फोल्गेल्ट कला की नीव के रूप में 'महत्त्वपूर्ण' की माग को स्वयंसिद्ध मानते हैं।

इसी योजना पर सौन्दर्य सम्बन्धी आज के सभी मानदण्ड बने है। कला की सच्ची परिभापा देने और इस परिभापा के अनुसार कौन रचना अच्छी

कला है या बुरी इसका निर्णय करने के बजाय, एक विशिष्ट श्रेणी की रचनाएँ, जो कि कुछ लोगों को प्रिय हैं, कला के रूप में स्वीकृत हुई हैं, और तब कला की एक ऐसी परिभाषा रची जाती है जो इन सब रचनाओं पर लागू हो। अभी कुछ दिन पहले ही मैंने इस पद्धति का एक उल्लेखनीय उदाहरण, मूयर-रचित एक अच्छे जर्मन ग्रंथ "१९ वीं शती में कला का इतिहास" में देखा। राफेलवादियों के पूर्ववर्तियो, ह्रासोन्मुखों और प्रतीकवादियों (जो कला-विधान में पहले से ही मान्य हैं) का वर्णन करते समय न केवल वह इन लोगों की प्रवृत्ति को सदोष बताता है बल्कि अपने मानदण्ड को विस्तृत करने का सच्चा प्रयत्न करता है ताकि इसके भीतर वे सब आ जायँ, क्योंकि उसकी मान्यता है कि वे यथार्थवाद के अतिरेक की वैध प्रतिक्रिया के प्रतिनिधि हैं। कला में चाहे जो भी बेहूदगियाँ हों, जब वे एक बार हमारे समाज के उच्च वर्ग में मान्यता पा जाती हैं तब तत्काल उन्हें स्वीकृति और व्याख्या प्रदान करने के लिए एक सिद्धान्त आविष्कृत कर लिया जाता है; मानो इतिहास में ऐसे युग कभी नहीं हुए हैं जब एक विशेष श्रेणी के लोगों ने असत्य, कुरूप, बुद्धिहीन कला को स्वीकृति और समर्थन नहीं दिया, जिसका बाद में कोई भी चिह्न शेष न रहा और जो एकदम विस्मृत हो गई। और कला की बुद्धिहीनता और कुरूपता किस सीमा तक जा सकती है, विशेषकर उस समय जब कि आज की तरह उसे अक्षर मान लिया गया हो, इसका पता उस क्रिया से चल सकता है जो हमारे वर्ग में इस समय कला क्षेत्र में की जा रही है।

इस प्रकार सौन्दर्य पर आधृत कला-सिद्धान्त, जिसका निरूपण सौन्दर्य-शास्त्रियों ने किया है और जो धुँधले रूप में जन-सामान्य द्वारा मान्य है, सिवा इसके और कुछ नहीं है कि जो हमें आनंदित करती है या कर चुकी है अर्थात् एक विशिष्ट श्रेणी के लोगों को आनंदित करती है उसे 'अच्छी' के रूप में प्रस्थापित कर दिया गया है।

किसी भी मानवी क्रिया की परिभाषा करने के लिए उसका महत्त्व और तात्पर्य समझना आवश्यक है: और इसके लिए सर्वप्रथम आवश्यक है कि स्वयं उस क्रिया को देखा जाय, उसके कारणों पर उसकी निर्भरता देखी जाय और उसके परिणामों से उसका संबन्ध समझा जाय। केवल उससे मिलने-वाला आनंद ही देखना पर्याप्त नहीं है।

यदि हम यह कहें कि किसी क्रिया का लक्ष्य हमारा आनंद मात्र है और उसी आनंद से हम उसकी परिभाषा करे तो हमारी परिभाषा स्पष्ट ही मिथ्या होगी। परंतु ठीक यही वात कला को परिभाषित करने के प्रयत्नो मे हुई है। यदि हम भोजन का प्रश्न उठाएँ तो हममें से किसी को यह न सूझेगा कि यह आग्रह करे कि भोजन का महत्त्व उस आनंद मे है जो हम खाते वक्त पाते हैं। प्रत्येक व्यक्ति समझता है कि हमारी रुचि का परितोष भोजन के गुणों की परिभाषा का आधार नही हो सकता और इसलिए हमें यह सोचने का हक नही है कि अत्यंत चरपरी लाल मिर्च युक्त लिम्वर्ग के पनीर या मदिरा आदि से युक्त भोजन, जिससे हम अभ्यस्त हैं, मनुष्य का सर्वश्रेष्ठ भोजन है।

उसी तरह सौन्दर्य, या जो कुछ हमें आनंदित करता है, कला की परिभाषा का आधार किसी तरह नहीं हो सकता; और न तो हमे आनंदित करनेवाला एक वस्तु-समुदाय कला का आदर्श हो सकता है।

कला के लक्ष्य और प्रयोजन को उससे मिलनेवाले आनंद में देखना यह मानने के समान है कि भोजन का प्रयोजन और लक्ष्य वह आनंद है जो उसे खाते समय प्राप्त होता है। (निम्नतम नैतिक विकासवाले, उदाहरणार्थ जगलियों द्वारा, ऐसा ही माना जाता है।)

जिस तरह आनंद को भोजन का लक्ष्य और प्रयोजन माननेवाले खाने का सही अर्थ नही जान सकते उसी तरह आनंद को कला का लक्ष्य माननेवाले कला के सत्य अर्थ और प्रयोजन को नही सकझ सकते, क्योकि वे आनंद का मिथ्या और अतिरिक्त लक्ष्य एक ऐसे व्यापार पर आरोपित कर देते है जिसका अर्थ उस संवन्ध मे प्राप्य है जो उसके और जीवन के अन्य कार्यो के वीच स्थापित है। लोग यह तभी समझ पाते हैं कि भोजन का अर्थ शरीर का पोषण है, तभी वे यह सोचना वंद कर देते हैं कि उस क्रिया का लक्ष्य आनंद है। यही वात कला के विपय में भी लागू होती है। लोग कला का अर्थ तभी समझ पाएँगे जव वे यह समझना वंद कर देंगे कि इस क्रिया का लक्ष्य सौंदर्य अर्थात् आनंद है। कला के लक्ष्य के रूप में सौंदर्य (अर्थात् कला से प्राप्त एक प्रकार का आनंद) की स्वीकृति न केवल हमें कला की परिभाषा पाने मे सहायक नही सिद्ध होती वल्कि उल्टे इस प्रश्न को कला से एकदम असंवन्धित क्षेत्र में (इस पर चिन्तनात्मक, मनोवैज्ञानिक, शारीरिक, यहाँ तक कि ऐतिहासिक विवाद कि क्यो अमुक रचना

एक व्यक्ति को प्रसन्न करती है और अमुक रचना एक व्यक्ति को प्रिय, दूसरे को अप्रिय है) रख देने से परिभाषा करना ही असम्भव कर देती है। पोषक-पदार्थों में जो कुछ अनिवार्य है उसकी परिभाषा पाने में चूँकि यह विवाद रंच भी नहीं सहायक होता कि क्यों एक व्यक्ति को नाशपाती पसन्द है और दूसरे को गोश्त, अत: कला में रुचि के प्रश्न (कला संबंधी विवाद अनचाहे भी इस विषय पर आ जाते हैं) का समाधान न केवल यह स्पष्ट करने में सहायक नहीं होता कि किस मानवी क्रिया को कला कहा जाय बल्कि इस तरह के स्पष्टीकरण को असम्भव भी बना देता है क्योंकि हम उस धारणा से मुक्त नहीं हो सके हैं जो हर प्रकार की कला को न्याय्य समझती है और यह नहीं देखती कि इससे यह विषय जटिल हो जायगा।

वह कला क्या है जिस पर लाखों की मिहनत, मनुष्यों की जिंदगी और सदाचार तक न्योछावर किये जाते हैं? इस प्रश्न के जो उत्तर हमें वर्तमान सौंदर्य-शास्त्रियों से मिले हैं उनका सारांश यह है: कला का लक्ष्य सौंदर्य है। सौंदर्य उस आनंद से परिज्ञेय है जो उससे प्राप्त होता है, और कलात्मक रसास्वाद अच्छी और महत्त्वपूर्ण चीज है, क्योंकि वह रसास्वाद है। एक शब्द में रसास्वाद इसलिए अच्छा है क्योंकि रसास्वाद है। इस प्रकार जिसे कला की परिभाषा समझी जाती है वह कोई परिभाषा नहीं है, वरन् वर्तमान कला को न्याय्य प्रमाणित करने के निमित्त एक गड़बड़झाला है। अतएव यह कहना आश्चर्यजनक भले ही हो पर सत्य है कि कला पर लिखित असंख्य पुस्तकों के बावजूद, कला की कोई सही परिभाषा नहीं बनाई जा सकी है। और इसका कारण यह है कि कला की धारणा सौंदर्य की धारणा पर आधृत है।

पाँचवाँ परिच्छेद

[वे परिभाषाएँ जो सौंदर्य पर नहीं आधृत हैं—ताल्सताय की परिभाषा—कला की सीमा और आवश्यकता—अतीत में लोग कैसे कला में भले-बुरे की पहचान करते थे।]

यदि हम सौंदर्य की धारणा को एक ओर रख दें जो कि सारे विषय को जटिल बना देती है, तब इसका उत्तर कि कला क्या है, एवं कला की नवीनतम और

सर्वाधिक सुबोध परिभाषाएँ, जो की सौंदर्य की धारणा से असंपृक्त हैं, निम्नलिखित हैं:—(१) अ—कला एक क्रिया है जो पशु-जगत मे भी होती है, कामेच्छा से और क्रीडा-प्रवृत्ति से उत्पन्न होती है (शिलर, डार्विन, स्पेंसर) और व—स्नायुमण्डल की आनंदपूर्ण उत्तेजना से संयुक्त होती है, (ग्रांट ऐलेन)। यह परिभाषा दैहिक विकासात्मक है। (२) मनुष्य द्वारा अनुभूत भावो की, रेखाओ, रगो, गतियों, ध्वनियों, या शब्दों के माध्यम से हुई बाह्य अभिव्यक्ति कला है, (वेरोन)। यह प्रयोगात्मक परिभाषा है। नवीनतम परिभाषा (संली) के अनुसार, (३) 'कला उस स्थायी वस्तु अथवा गतिमान क्रिया का उत्पादन है जो निर्माता को क्रियात्मक आनंद और दर्शक-श्रोतागण को, इससे निस्सृत किसी व्यक्तिगत लाभ के वगैर, आनंदप्रद अनुभव देने के लिए उपयुक्त हो।'

यद्यपि ये परिभाषाएँ उन दार्शनिक परिभाषाओं से श्रेष्ठ हैं जो सौंदर्य-धारणा पर निर्भर हैं, तथापि ये ठीक नही है। प्रथम, जिसका सवंध दैहिक विकासात्मक से है (१) अ—इसलिए ग़लत है क्योंकि कलात्मक व्यापार के विषय में वताने के वजाय, जो कि वास्तविक समस्या है, यह कला की व्युत्पत्ति की चर्चा करती है। इसका संशोधन व—जो कि मानव देह के शारीरिक प्रभावों पर आधृत है, इसलिए गलत है क्योकि ऐसी परिभाषा की सीमाओं में अन्य अनेक मानवी क्रियाएँ समाविष्ट की जा सकती हैं, जैसा कि नव-सौंदर्यवादी सिद्धांतों मे हुआ है जो सुन्दर वस्त्रों, आनंदप्रद सुगंधों, और रसद वनाने को भी कला समझते हैं।

प्रयोगात्मक परिभाषा, (२), जिसके अनुसार कला भावों की अभिव्यक्ति है, इसलिए गलत है क्योंकि मनुष्य रेखाओ, रंगों, ध्वनियों या शब्दो के सहारे अपने भावों को अभिव्यक्त कर सकता है, तथापि अन्यों पर ऐसी अभिव्यक्ति द्वारा प्रभाव नहीं डाल सकता—और तव उसके भाव की अभिव्यक्ति कला नही है।

तीसरी परिभाषा जो कि सली की है इसलिए ग़लत है क्यों कि उन वस्तुओं या क्रियाओं की रचना (उत्पादन) में, जो कि व्यक्तिगत लाभ दिए वगैर निर्माता को आनंद और दर्शक-श्रोतागण को आनन्दात्मक अनुभूति देती है, जादूगरी के खेल, शारीरिक व्यायाम, और ऐसी वहुत क्रियाएँ दिखाई जा सकती है, जो कि कला नहीं हैं। पुनः ऐसी वहुत-सी चीजें असंदिग्ध कलाकृतियाँ

हो सकती हैं जिनकी रचना में रचयिता को आनंद नहीं मिलता और जिससे प्राप्त अनुभूति दु खपूर्ण है, जैसे किसी नाटक या काव्यात्मक वर्णन में हृदय-विदारक और विषादात्मक दृश्य ।

इन सब परिभाषाओं की त्रुटि का कारण यह है कि इन सब में (जैसा कि दार्शनिक परिभाषाओं में भी) जिस वस्तु पर विचार किया जाता है वह है कला द्वारा प्रदेय आनंद, और उस प्रयोजन का विचार नहीं होता जिसकी पूर्ति कला मानव एवं मानव-जाति के जीवन में करती है ।

कला की सही परिभाषा देने के लिए यह आवश्यक है कि सबसे पहले हम इसे आनद के साधन रूप में देखना छोड़ दें और इसे मानव-जीवन की एक शर्त समझें। इसे इस प्रकार देखने पर हमें यह कहना पड़ता है कि कला मनुष्य-मनुष्य के बीच सपर्क का एक साधन है ।

प्रत्येक कलाकृति ग्रहीता और कला-स्रष्टा के बीच सबंध स्थापित करती है तथा ग्रहीता और उन लोगों के बीच सबंध स्थापित करती है जिन्होंने साथ ही, पहले या बाद में वही कलात्मक अनुभूति पाई है।

मनुष्यो के अनुभवो तथा विचारो की सवाहक वाणी मानवों में ऐक्य स्थापन का एक साधन है, और कला भी यही प्रयोजन पूर्ण करती है। मानवी सबंध-सचार के दूसरे साधन की विलक्षणता उसे शब्दो द्वारा स्थापित सबध-सचार से पृथक् करती है । इन दोनो साधनो में अन्तर यह है कि शब्दो द्वारा मनुष्य अपने विचारों को दूसरे तक प्रेषित करता है किन्तु कला द्वारा अपनी भावनाएँ प्रेषित करता है ।

कला व्यापार इस तथ्य पर आधृत है कि कोई मनुष्य, जो अपने नेत्रो या कानो द्वारा दूसरे व्यक्ति की भावाभिव्यक्ति को ग्रहण कर रहा है, उस मनोराग का अनुभव करने मे भी समर्थ है जिसने वह व्यक्ति प्रभावित हुआ जिसने कि उसे (मनोराग को) अभिव्यक्त किया। सरलतम उदाहरण से : एक व्यक्ति हँसता है, और दूसरा, जो कि सुनता है, आनंदित हो जाता है, या एक व्यक्ति रोता है और दूसरा, जो कि सुनता है, दुखी हो जाता है। कोई व्यक्ति उत्तेजित या सक्रोध है और दूसरा व्यक्ति उसे देखते ही उसी मनोदशा को प्राप्त होता है । अपनी मुद्राओ या वाणी की ध्वनियो द्वारा एक व्यक्ति उत्साह और सकल्प या दुःख और शान्ति व्यक्त करता है और यह मनोदशा दूसरो में प्रविष्ट होती है। एक व्यक्ति कष्ट भोगता है और अपनी वेदना को कराह और ऐंठनो

के द्वारा व्यक्त करता है, यह वेदना अन्य लोगों तक पहुँचती है; एक व्यक्ति कुछ चीजों, लोगों या बातों के प्रति अपनी प्रशंसा, भक्ति, भय, आदर या प्रेम की भावना व्यक्त करता है और अन्य लोग उन चीजो, व्यक्तियों, या बातो के प्रति प्रशंसा, भक्ति, भय, आदर या प्रेम की उही भावनाओं से संक्रमित होते हैं।

अन्य की भावनाभिव्यक्ति को ग्रहण करने और उन भावो को स्वयं भी अनुभव करने की मनुष्य की इस क्षमता पर ही कला की क्रिया आवृत है।

यदि कोई मनुष्य अपनी मुखमुद्रा द्वारा या उन ध्वनियो द्वारा, जिन्हें वह भावनानुभूति के समय ही व्यक्त करता है, किसी दूसरे को अथवा बहुत से अन्य लोगों को तत्काल प्रत्यक्षत: संक्रमित करता है; जब वह स्वय जम्हाई न रोक सके यदि उसी समय एक दूसरे व्यक्ति को भी जम्हाई लेने को विवश कर दे, या उस समय दूसरे को हँसा-रुला दे जिस समय वह स्वयं हँसने-रोने को विवश हो, या किसी दूसरे को भी उस समय दुःखानुभूति करा दे, जब वह स्वयं दुःख भोग रहा हो—यह कला नही है।

कला का प्रारंभ तब होता है जब कोई व्यक्ति एक ही भावना में अपने से दूसरों को संबद्ध करने के उद्देश्य से उस भावना को कुछ बाह्य संकेतों द्वारा व्यक्त करता है। साधारण-सा उदाहरण ले : भेड़िए से सामना होने पर प्राप्त भय के अनुभव वाला कोई लड़का उस दुर्घटना का वर्णन करता है और उस भावना को दूसरो में उत्पन्न करने के लिए जिसे उसने अनुभव किया, अपना, मुठभेड़ के समय अपनी स्थिति, स्थान, जंगल, अपनी निजी मस्ती, और तब भेड़िए का आगमन, उसकी हरकतें, भेड़िए और अपने बीच की दूरी, आदि वर्णित करता है। यह सब कला है यदि कहानी कहते समय पुन: वह बालक उस भाव का अनुभव करता है जिसमें वह रह चुका है, और श्रोताओं को संक्रमित कर देता है और अपना-सा ही अनुभव करने के लिए उन्हें विवश कर देता है। यदि लड़के ने कभी भेड़िया न भी देखा हो और बराबर भेड़िए से भयभीत रहा हो और यदि आत्मानुभूत भय को दूसरो में उत्पन्न कर की इच्छा से उसने भेड़िए से मुठभेड़ की मनगढ़न्त घटना रची और इस तरह कहा कि उसके श्रोतागण उन्ही भावनाओं का अनुभव करें जिन्हें भेडिए से त्रस्त होने पर उसने अनुभव किया, तो यह भी कला है। ठीक उसी तरह यह कला है कि कोई मनुष्य कष्ट का भय और आनद का आकर्षण अनुभव करने के बाद (चाहे सत्य अथवा काल्पनिक) इन भावों को चित्रपट पर या संगमर्मर पर इस प्रकार व्यक्त

करे कि अन्य लोग भी उन भावो से संक्रमित हों। और यह भी कला है कि कोई मनुष्य प्रसन्नता, सुख, दु:ख, निराशा, उत्साह या उदासी के भावो को, या इन भावों में से एक से दूसरे तक का संक्रमण, सत्य या काल्पनिक रूप में, अनुभव करे और इन्हें ध्वनियो से इस तरह व्यक्त करे कि श्रोतागण उन भावो से संक्रमित हो जायें, और उसी रूप में उन भावो का अनुभव करें जिस रूप में रचयिता ने अनुभव किया था।

कलाकार जिन भावो से दूसरो को संक्रमित करता है वे कई प्रकार के हो सकते हैं—बहुत प्रबल या बहुत दुर्बल, बहुत महत्त्वपूर्ण या बहुत नगण्य, बहुत अच्छा या बहुत बुरा : प्रेम, आत्मभक्ति, किसी नाटक में व्यक्त ईश्वर या भाग्य के प्रति समर्पण, उपन्यास में वर्णित प्रेमियो के उल्लास की भावनाएँ, किसी चित्र में व्यक्त कामासक्ति की भावनाएँ, विजय-प्रयाण का उत्साह, नृत्योत्थित आनंद, हास्य कथा द्वारा उत्पन्न विनोद, लोरी गीत या सांध्यकालीन प्राकृतिक दृश्य द्वारा प्रेषित शांति की भावना, या एक सुन्दर अरबी शिल्प के द्वारा उत्पन्न की गई प्रशंसा की भावना—यह सब कला है।

यदि केवल दर्शक या श्रोतागण उन्ही भावनाओ से संक्रमित हो गए हैं जिसे रचयिता ने अनुभव किया है, तो यह कला है।

जिस भावना को हमने एक बार अनुभव किया हो उसे पुन: उत्पन्न करना, और अपने भीतर उसे उत्पन्न कर लेने के बाद, गति, रेखाओ, रगो, ध्वनियों, या शब्दात्मक रूपो द्वारा उस को इस तरह प्रेषित करना कि अन्य लोग भी उसका अनुभव करें—कला का यही कार्य है।

कला मानवी व्यापार है और इसमें निहित है कि एक व्यक्ति जान-बूझ कर कुछ बाह्य चिह्नो द्वारा उन भावो को अन्यो तक प्रेषित करता है, जिनका वह अनुभव कर चुका है, और अन्य लोग इन भावों से संक्रमित होते हैं और उन भावो की अनुभूति उन्हें भी होती है।

कला ईश्वर या सौंदर्य की किसी रहस्यपूर्ण कल्पना की अभिव्यक्ति नहीं है—(यद्यपि दार्शनिकगण यही कहते हैं); न तो वह खेल है जिसमें मनुष्य अपनी संग्रहीत शक्ति का आधिक्य निकालता है—(यद्यपि सौन्दर्य-शास्त्र के शरीर-विज्ञानवादी यही कहते हैं); न तो वह बाह्य संकेतों द्वारा मनुष्य के भावों की अभिव्यक्ति है; न वह आनन्दप्रद वस्तुओ की रचना है; और वह

आनंद तो नहीं ही है; वरन् वह मानवों में ऐक्य का एक साधन है जो उन्हें एक ही भावना में ग्रथित करता है, और व्यक्तियों के तथा मानव जाति के कल्याणार्थ जीवन और प्रगति के लिए अनिवार्य है।

शब्दों द्वारा विचाराभिव्यक्ति में सक्षम होने के कारण प्रत्येक मनुष्य वह सब जान सकता है जो उसके लिए समस्त मानव जाति द्वारा पहले के युगों में विचार क्षेत्र में किया गया है और दूसरों के विचार समझने में सक्षम होने के कारण वह वर्तमान काल में उन लोगों की क्रिया में साझीदार हो सकता है और स्वयं भी अपने समकालीनो और परवर्तियों को अन्यों से ग्रहीत विचारो को तथा निजी विचारों को दे सकता है; अतः कला के माध्यम से अन्यों की भावनाओं से संक्रमित होने की क्षमता के कारण वह सब मनुष्य के लिए प्राप्य है जिसके मध्य उसके समकालीन लोग रह रहे हैं, तथा उसे वे भावनाएँ भी प्राप्त हैं जो हजारों वर्ष पहले मनुष्यों द्वारा अनुभूत हुई थी, और अपनी भावनाओं को अन्यों तक प्रेषित करने की सम्भावना भी उसके पास है।

यदि अपने पूर्वजों के विचारों को ग्रहण करने और अपने विचारो को अन्यों तक पहुँचाने् की क्षमता मनुष्यों में न हुई तो वे जंगली जानवरों या कैस्पर हासर की तरह हो जाएँगे।[1]

और यदि लोगों में कला द्वारा संक्रमित होने की यह दूसरी क्षमता न हुई तो लोग और भी अधिक जंगली होंगे और एक-दूसरे से और भी अलग और विरुद्ध होंगे।

इसलिए कला कार्य बहुत महत्त्वपूर्ण है, उतना ही महत्त्वपूर्ण जितना कि संभापण कार्य और उतना ही व्यापक भी।

जिस प्रकार भाषण केवल उपदेशों, व्याख्यानों या पुस्तकों में ही हमारे काम नहीं आता वल्कि उन सभी उक्तियों में काम आता है जिनके द्वारा हम परस्पर अपने अनुभवों एवं विचारों का विनिमय करते हैं, उसी प्रकार अपने विशद अर्थ

---

१. २३ मई सन् १८२८ में शहर के चौक में १६ वर्षीय 'नूरेम्वर्ग नगर की खोज।' वह वोलता नहीं था और सामान्य वस्तुओं के विषय में भी एक दम अनभिज्ञ था। वाद में उसने किसी तरह वताया कि धरती के नीचे के एक जेल में मेरा पालन हुआ और मेरे पास केवल एक आदमी आता था। उसे भी मैंने वहुत कम देखा था।

में कला भी हमारे सारे जीवन पर छाई हुई है, परन्तु उसके संकुचित अर्थ में उसकी कुछ ही अभिव्यक्तियों को हम यह नाम देते हैं।

जो कुछ हम थियेटरों, प्रदर्शनों, संगीत समारोहों में देखते-सुनते हैं केवल उसी को कला समझने के अभ्यस्त हो गए हैं; साथ ही भवनों, मूर्तियों, कविताओं और उपन्यासों को भी। परन्तु यह सब उस कला का लघुतम अंश है जिसके द्वारा हम जीवन में एक-दूसरे से विनिमय करते हैं। सारा मानव-जीवन प्रत्येक प्रकार की कलाकृति से भरा पड़ा है—पालने के गीत, मजाक, नकल, मकानों की सजावट, वेश, और बर्तनों से लेकर, गिरजे की प्रार्थनाओं, भवनों, स्मारकों, विजय के जुलूसों तक—यह सब कलात्मक कार्य है। इस तरह कला के संकुचित अर्थ से हमारा तात्पर्य उस सब मानवी क्रिया से नहीं है जो भावनाओं को प्रेषित करती है, बल्कि केवल उस अंश से है जिसे हम किसी कारण से इसमें से चुन लेते हैं और विशेष महत्त्व देते हैं।

हमेशा यह विशेष महत्त्व लोगों ने इस क्रिया के उस अंश को दिया है जो उन लोगों की धार्मिक दृष्टि से उद्भूत भावनाओं को प्रेषित करता है, और इस छोटे अंश को उन्होंने स्पष्टतः शब्द के संपूर्ण अर्थ सहित 'कला' नाम से अभिहित किया है।

प्राचीन युग के लोगों ने—सुकरात, प्लेटो, और अरस्तू ने—कला को इसी रूप में देखा। इसी रूप में हिब्रू संतों और प्राचीन ईसाइयों ने कला को समझा। मुसलमानों द्वारा यह इसी रूप में समझी जाती थी और अब तक समझी जाती है, और इसी रूप में अब तक यह हमारे कृषक समुदाय के धार्मिक लोगों द्वारा समझी जाती है।

मानव-जाति के कुछ शिक्षकों ने—जैसे अपने "प्रजातन्त्र" में प्लेटो, और प्राचीन ईसाइयों की तरह के लोग, कट्टर मुसलमान, और बौद्धों ने—तो समस्त कला का खंडन कर दिया है।

कला को इस प्रकार देखनेवाले लोगों का (आज की विचारणा के विपरीत जो ऐसी किसी भी कला को अच्छी समझती है जो आनंद प्रदायक है) मत यह है कि कला (भाषण की तुलना में, जिसे सुनने की आवश्यकता नहीं) लोगों के संकल्प के विपरीत उन्हें संक्रमित करने में इतनी खतरनाक शक्ति से संपन्न है कि मानव-जाति यदि सारी कला को बहिष्कृत कर दे तो उसे बहुत कम क्षति

उठानी पड़ेगी, अपेक्षाकृत उस हानि के जो कि वह हर कला को स्वीकार करने के कारण उठाएगी।

प्रत्यक्ष ही सारी कला का खंडन करनेवाले ये लोग गलत रास्ते पर थे, क्योंकि वे उसे अस्वीकार कर रहे थे जिसे अस्वीकार किया नहीं जा सकता—विचार-वहन का एक अनिवार्य साधन, जिसके द्वारा मानव-जाति अस्तित्व ही खो बैठेगी। परन्तु हमारे युग तथा वर्ग के सभ्य यूरोपीय समाज के लोग कम गलत नहीं हैं, जब वे ऐसी किसी भी कला का समर्थन करते हैं जो मात्र सौन्दर्य-साधक है अर्थात् लोगों को आनंदित करती है।

पहले लोग डरते थे कि कहीं कलाकृतियों में कुछ ऐसी न हों जो पापाचार उत्पन्न करें, और इसी से उन्होंने समस्त कला का एकबारगी ही निषेध कर दिया। अब वे डरते हैं कि कहीं वे ऐसे किसी आनंद से वंचित न हो जायँ जो कला दे सकती है, और वे कला को संरक्षण देते हैं। मैं समझता हूँ कि अंतिम त्रुटि प्रथम त्रुटि से कहीं अधिक भयानक है और इसके परिणाम कहीं अधिक हानिकर हैं।

छठवाँ परिच्छेद

[किस तरह आनन्द के लिये कला सम्मानित हुई—धर्म बताते हैं कि क्या भला समझा जाता है, क्या बुरा—चर्च की ईसाइयत—पुनरुत्थान—उच्चवर्ग की शंकाशीलता—वे शिव और सुन्दर को एक कर बैठते हैं।]

परन्तु यह कैसे हो गया कि वही कला जो प्राचीन काल में केवल बर्दाश्त कर ली जाती थी (यदि यह सच है तो), हमारे युग में बराबर अच्छी चीज समझी जाने लगी है, यदि वह मात्र आनंद-प्रदायक है?

इसके कारण निम्नलिखित हैं। कला का मूल्यांकन (बल्कि, उन भावनाओं का मूल्यांकन जिन्हें यह प्रेषित करती है) मनुष्य के जीवनाभिप्राय बोध पर निर्भर है, इसपर निर्भर है कि वे जीवन में किसे अच्छा, किसे, बुरा समझते हैं। और क्या भला है, क्या बुरा है यह बतानेवाले धर्म हैं।

मानवता जीवन के एक निम्नतर, एकांगी, अस्पष्ट बोध से अधिक सर्वतुलन और सुस्पष्ट बोध की ओर निरंतर बढ़ती जाती है। अन्य आन्दोलनों की तरह इसमें भी नेता होते है—जिन्होंने जीवन का अर्थ अन्यों की अपेक्षा अधिक समझा है—और इन अग्रणी-लोगों में हमेशा एक व्यक्ति ऐसा होता है जिसने अपने शब्दों एवं कार्यों द्वारा इस अर्थ को अन्यों की अपेक्षा अधिक स्पष्टता, दृढता और पूर्णता के साथ व्यक्त किया है। इस आदमी द्वारा अभिव्यक्त जीवनाभिप्राय, और साथ ही वे अंधविश्वास, परंपराएँ और विधियां जो सामान्यत. ऐसे आदमी के संबंध में बन जाती है—इसी को धर्म कहा जाता है। धर्म उस उत्तम जीवन-बोध के व्याख्याता है, जो किसी युग में किसी समाज के सर्वश्रेष्ठ और सर्वप्रमुख लोगों को प्राप्त होता है। यह बोध ऐसा होता है जिसकी ओर अनिवार्यत. और अप्रतिहत शेष समाज अग्रसर होता है। अतः केवल धर्म ही मानवी भावनाओं के मूल्यांकन के आधार रहे है और है। यदि भावनाएँ मनुष्यों को उस आदर्श के समीप लाती है जिसका संकेत उनका धर्म करता है, यदि उनका उससे सामंजस्य है और वे उसका विरोध नहीं करते, तो वे भावनाएँ अच्छी है; यदि वे इस आदर्श से लोगों को दूर करती है और इसका विरोध करती है तो वे बुरी है।

यदि धर्म जीवन का अर्थ इसे समझता है कि एक ईश्वर की पूजा की जाय और उसकी इच्छा पूर्ति की जाय, जैसा कि यहूदियों में प्रचलित था, तब उस ईश्वर और उसके विधान के प्रति प्रेम से उद्भूत भावनाएँ जब मनोहाओं, स्तोत्रों तथा मूल ग्रंथ के महाकाव्य द्वारा काव्य-कला के माध्यम से सफलतापूर्वक प्रेषित की जाती है तब वे अच्छी, उच्च कला है। वह सब जो इनके विरुद्ध है उदाहरणार्थ विचित्र देवों के प्रति भक्तिभावना का प्रेषण, या ईश्वर के विधान से असंगत भावनाएँ, बुरी कला समझे जाएँगे। या यदि, जैसा कि ग्रीसवासियों में प्रचलित था, धर्म जीवन का अर्थ भौतिक सुख, सौंदर्य, और शक्ति में निहित मानता है, तब जीवन के उल्लास और बल को सफलतापूर्वक प्रेषित करनेवाली कला अच्छी समझी जायगी, परन्तु स्त्रैणता या निराशा की भावनाओं की प्रेषक भावनाओंवाली कला बुरी कला होगी। यदि जीवन का अर्थ अपने राष्ट्र की समृद्धि में देखा जाता है, या अपने पूर्वजों के आदर में और उनकी जीवन पद्धति को बनाए रखने में देखा जाता है, जैसा कि क्रमशः रोमवासियों और चीनवासियों में प्रचलित था तब वह कला अच्छी समझी जायगी जो जनहित के लिए

व्यक्तिगत समृद्धि के बलिदान से संबंधित आनंद की भावनाओं को प्रेपित करती है, या अपने पूर्वजों की प्रशंसा और उनकी परंपरा के निर्वाह से सम्वन्धित आनंद की भावनाओं को प्रेषित करती है; परन्तु इसके विपरीत भावनाओं को व्यक्त करनेवाली कला बुरी समझी जायगी। यदि पाशविकता के वंधनो से अपनी मुक्ति को जीवन का अभिप्राय (अर्थ) समझा जाता है, जैसा कि बौद्धों का मत है, तव उन भावनाओं को सफलतापूर्वक प्रेषित करनेवाली कला अच्छी होगी, जो आत्मा का उन्नयन और दैहिक सुख (मांस) का तिरस्कार करती है, और वह सब बुरी कला होगी जो दैहिक वासनाओ को पुष्ट करनेवाली भावनाओं को प्रेषित करेगी।

प्रत्येक युग और मानव-समाज में, पूरे समाज में प्रचलित एतद्विषयक् एक धार्मिक चेतना होती है कि क्या भला है और क्या बुरा है, और यह धार्मिक धारणा कला द्वारा प्रेषित भावनाओं का मूल्य निर्दिष्ट करती है। अतएव सभी राष्ट्रों में वह कला अच्छी समझी गई और प्रोत्साहित की गई जिसने सामान्य धर्म-चेतना द्वारा भद्र समझी गई भावनाओं को प्रेषित किया; परन्तु वह कला बुरी समझी गई और अमान्य कर दी गई, जिसने इस धर्म-चेतना द्वारा बुरी समझी गई भावनाओं को प्रेषित किया। कला के विशाल क्षेत्र का सारा अवशेष, जिसके द्वारा लोग एक-दूसरे से विचार संबंध स्थापित करते हैं, रंच भी सम्मानित नही होता था, और तभी उस ओर लोग ध्यान देते थे जब युग की धार्मिक धारणा के विपरीत होने के कारण लोगो को उसका खण्डन करना होता था। सभी राष्ट्रो मे यही स्थिति थी—ग्रीक, यहूदी, भारतीय, मिश्री और चीनी; और जब ईसाई-धर्म का उदय हुआ तब भी यही स्थिति थी।

प्रथम शताब्दियों का ईसाई-धर्म किंवदंतियों, संतो की जीवनियों, उपदेशों, प्रार्थनाओं और मंत्रगायन, ईसा के प्रति प्रेमाह्वान, उनके जीवन पर सवेदना, उनका उदाहरण पालने की इच्छा, सासारिक जीवन का त्याग, विनयशीलता, अन्यो के प्रति प्रेम आदि को ही कला की अच्छी रचनाएँ समझता था; उन सब रचनाओ को बुरी समझकर तिरस्कृत कर दिया जाता था जो व्यक्तिगत आनंद की भावनाओं को प्रेपित करती थी; उदाहरणार्थ वही गतिशील कृतियाँ रहने दी जाती थी जो प्रतीकात्मक होती थी, शेप समस्त प्रतिमात्मक शिल्प अस्वीकृत कर दिया जाता था।

यह मनोदशा प्रथम शताब्दियों के ईसाइयो की थी जो ईसा के उपदेश को चाहे एक दम सत्य रूप में न स्वीकार करते रहे हो, परन्तु विभ्रष्ट, प्रतिमात्मक रूपमें तो हर्गिज नही स्वीकार करते थे जिस रूपमें कालान्तर में यह मान्य हुआ।

परन्तु इस ईसाई-धर्म के सिवा,—उस समय से जब कि अधिकारियो की आज्ञा से राष्ट्रों का व्यापक धर्म-परिवर्तन होता था, जैसा कि कान्स्टेंटाइन, चार्लमेन और व्लैडिमिर के युग में,—एक दूसरा, प्रार्थनालय का ईसाई-धर्म, उदित हुआ जो ईसा की शिक्षाओ के समीप होने की अपेक्षा प्रतिमापूजक धर्मों के अधिक समीप था। और अपनी ही शिक्षा के अनुसार इस प्रार्थनालय के ईसाई-धर्म ने लोगो की भावनाओ का और कला की उन रचनाओ का मूल्याकन दूसरी तरह किया जो उन भावनाओ को प्रेषित करती थी।

इस प्रार्थना-गृह के ईसाई-धर्म ने न केवल सत्य ईसाई-धर्म की अनिवार्य और मूलभूत स्थापनाओ को नही माना—प्रत्येक व्यक्ति का परमपिता से तात्कालिक संबंध, तज्जन्य भ्रातृत्व और मानवी साम्य, और किसी भी तरह की हिंसा के बदले प्रेम और विनय का नियोजन—बल्कि उल्टे मूर्तिपूजन के देववाद की तरह की एक स्वर्गिक वंश-परंपरा स्थापित कर देने, और ईसा, कुमारी, देवदूतो, मसीहो, संतो, शहीदों की पूजा, और इन्ही आध्यात्मिक विभूतियो की पूजा ही नही बल्कि इनकी मूर्तियो की भी पूजा प्रचलित कर देने के बाद, इस धर्म ने चर्च (मठ) और उसके आदेशो की अंधभक्ति को अपनी शिक्षा का अनिवार्य अंग बना दिया।

सच्चे ईसाई-धर्म से यह शिक्षा चाहे जितनी भी दूर रही हो, कितनी भी पतित रही हो, सच्चे ईसाई-धर्म की तुलना में ही नही बल्कि जूलियन तथा अन्य रोमवासियों द्वारा मान्य जीवन-बोध की तुलना में भी, तथापि इसे स्वीकार करनेवाले जंगलियो के लिए देवो, वीरो, भली-बुरी प्रेतात्माओ के पूजन की अपेक्षा यह एक उच्चतर सिद्धात था। और इसीलिए यह शिक्षा उनके लिए एक धर्म थी, और इस धर्म के आधार पर तत्कालीन कला का मूल्यांकन किया गया। और वह कला अच्छी समझी गई जो कुमारी, ईसा, संतों, देवदूतों की पवित्र पूजा और धर्म-व्यवस्था (चर्च) में अंधविश्वास तथा उस पर समर्पण, यन्त्रणाओ का भय, एव मृत्यु से परे एक जीवन के परमानंद की आशा को प्रेषित करती थी, और वह सारी कला बुरी समझी गई जो इसका विरोध करती थी।

जिस शिक्षा के आधार पर यह कला खड़ी हुई वह ईसा की एक शिक्षा का विकृत रूप था, परन्तु इस विभ्रष्ट शिक्षा के ऊपर जो कला खड़ी हुई वह इन बातों के बावजूद सच्ची कला थी, क्योंकि जिन लोगों के बीच यह उत्पन्न हुई उनके जीवन विषयक धार्मिक विचारों से इसका सामंजस्य था।

मध्ययुगीन कलाकार उसी भाव—स्रोत—धर्म से जनसाम्य की तरह सशक्त होने के कारण और स्थापत्य, शिल्प, चित्रकला, सगीत, काव्य, नाटक में आत्मानुभूत भावों एव मनोदशाओं को प्रेपित करने के कारण सच्चे कलाकार थे; और उनका कार्य, जो कि उस युग द्वारा प्राप्य उच्चतम ज्ञान पर आधृत था और सब लोगों में प्रचलित था—यद्यपि हमारे युग में उसे निम्न कला समझा जाएगा—फिर भी सच्ची कला थी जिसमें पूरी जाति भाग लेती थी।

यह स्थिति तब तक रही जब तक कि योरपीय समाज के उच्च, धनिक, अधिक शिक्षित वर्ग में, चर्च के ईसाई-धर्म द्वारा प्रतिपादित जीवन-बोध की सत्यता के विषय में सदेह नही उत्पन्न हुआ। जब धर्म-युद्धो और पोप (ईसाइयो के धर्मगुरु) की शक्ति के अधिकतम विकास और उसके विकार के बाद धनिक वर्ग के लोग प्राचीनों के विवेक से परिचित हुए और एक ओर उन्होने प्राचीन सतो की शिक्षा की बौद्धिक स्पष्टता देखी और दूसरी ओर चर्च के मतवाद की ईसा की शिक्षा से असगति देखी, तब यह उनके लिए असभव हो गया कि वे चर्च की शिक्षा मे विश्वास बनाए रखें।

यद्यपि बाह्यत: वे अब भी चर्च की शिक्षा के अनुकूल बने रहे, तथापि वे अब उसमे अधिक दिन विश्वास नही कर सकते थे, और इसे केवल आलस्य के कारण और जनता को प्रभावित करने के लिए पकड़े हुए थे, जो (जनता) चर्च के मतवाद मे अंधविश्वास बनाए रही और जिसे उच्च श्रेणियो ने उन विश्वासो मे प्रोत्साहित करने रहना अपने काम के लिए आवश्यक समझा।

फलत: एक समय ऐसा आया जब चर्च का ईसाई धर्म सब ईसाइयो का सामान्य धार्मिक मत नही रह गया: कुछ लोग—जनता—इसमें अंधविश्वास बनाए रह गए, परन्तु उच्च वर्गों ने—जिनके हाथ में शक्ति और संपदा थी और इसलिए कला-सृष्टि के लिए अवकाश और उसे स्फूर्ति देने के लिए साधन थे—उस शिक्षा को मानना बंद कर दिया।

धर्म के विषय में मध्ययुग के उच्च वर्गों की वही स्थिति थी जो ईसाई-

धर्म के उदय के पहले शिक्षित रोमन लोगो की थी, अर्थात्, वे अब जनता के धर्म में विश्वास न करते थे परन्तु उस घिसे-पिटे चर्च के मतवाद की जगह रखने के लिए उनके पास कोई भी विश्वास न थे जो उनके लिए व्यर्थ हो चुका था।

अंतर केवल यह था कि, कुल-देवो और सम्राट्-देवो में आस्था खोए हुए रोमनों के लिए यह असभव था कि उस जटिल पुराण (देववाद) से अब और कुछ निकाल सकें जिसे उन्होने विजित देशो से उधार लिया था, और फलतः जीवन का एकदम नया अर्थ पाना आवश्यक था, परन्तु मध्ययुगीन लोगो ने जब चर्च-शिक्षा की सचाई पर सदेह किया तब उन्हें नई शिक्षा खोजने की आवश्यकता न पड़ी। वह ईसाई शिक्षा, जिसे वे चर्च-सिद्धान्त के विभ्रष्ट रूप मे मानते थे, मानव प्रगति के मर्म्म को इतना आगे तक नाप चुकी थी कि उन्हें केवल उन विदूषणो से अपने को मुक्त करने की आवश्यकता थी जिन्होने ईसा द्वारा घोषित शिक्षा को छिपा लिया था और उसके सच्चे अर्थ को स्वीकार करने की आवश्यकता थी—यदि पूर्णतः नही, तो कम से कम चर्च की अपेक्षा अधिक मात्रा में और यह कार्य अशतः न केवल विक्लिफ, हस, लूथर, एव कैल्विन के सुधार-आन्दोलनों द्वारा किया गया वल्कि गैर-चर्च के ईसाई धर्म की सपूर्ण धारा के द्वारा भी जिसके प्रतिनिधि पहले पालीशियन और वेगोमिलाइट[1] थे और वाद में वैल्डेस और अन्य गैर-चर्च के ईसाई थे, जिन्हे नास्तिक कहा जाता था। परतु यह मुख्यतया निर्धन लोगों द्वारा होता और किया जा सकता था—क्योकि वे शासक नही थे। असीसी के फ्रासिस आदि की तरह कुछ धनी और शक्तिशाली लोगो ने ईसाई शिक्षा को उसके पूरे अर्थो में ग्रहण किया, भले ही इससे उनकी लाभप्रद स्थितियाँ निर्मूल हो गई हो। परतु उच्च वर्गो के अधिकाश लोग (यद्यपि अपनी आत्मा की गहराई मे उन्होने चर्च की शिक्षा में विश्वास खो दिया था) न तो इस तरह करना चाहते थे, न कर सकते थे, क्योकि उस ईसाई जीवन-बोध का सार, जो (जीवन-बोध) उस समय अपनाए जाने के लिए तैयार खडा था जिस समय एक बार वे लोग चर्च के मत को अस्वीकृत कर चुके थे, मानव-भ्रातृत्व की शिक्षा था (और इसीलिए मानवी साम्य की भी) और यह शिक्षा

---

१. ईसाई-धर्म के प्रारंभिक इतिहास में सुज्ञात पूर्वी संप्रदाय जिसने ईसा की शिक्षा के चर्चकृत रूपान्तर को अस्वीकार कर दिया और जिसको क्रूरतापूर्वक प्रपीड़ित किया गया।—एं० मा०

उन विशेष सुविधाओं की भर्त्सना करती थी जिनके सहारे वे रहते थे, जिसमें वे बढ़े थे और शिक्षित हुए थे, और जिससे वे अभ्यस्त हो गए थे। अन्तरात्मा में चर्च-शिक्षा के प्रति अविश्वास के कारण—क्योंकि यह शिक्षा अपनी युगीन उपादेयता खो चुकी थी और उनके लिए सत्यार्थहीन हो गई थी—और सच्चे ईसाई-धर्म को स्वीकार करने का साहस न होने के कारण इन धनी, शासकीय वर्गों के लोगों—धर्मगुरु (पोप), राजा, सामंत, और पृथ्वी के सभी गण्यमान्य—के पास कोई धर्म नही रह गया था। उनके पास था भी तो केवल एक धर्म का वाह्य रूप, और अपने लिए आवश्यक एव लाभप्रद होने के कारण जिसका वे समर्थन करते थे क्योकि यह रूप उस शिक्षा को बनाए रक्खे था जो उनके विशेषाविकारों को न्याय्य करार देती थी। वास्तव में ये लोग उसी तरह किसी चीज मे विश्वास नही करते थे, जिस तरह प्रथम शतियों के रोमन लोग किसी चीज में आस्था नही रखते थे। फिर भी इन्ही लोगों के पास संपत्ति और शक्ति थी, और यही लोग कला को पुरस्कृत करते थे और उसका निर्देशन करते थे।

यह कह दिया जाय कि इन्ही लोगों के बीच वह कला उदित हुई जो अपने सौन्दर्य के अनुपात से आदृत होती थी—दूसरे शब्दो में अपने द्वारा प्रदत्त आनंद के अनुसार आदृत होती थी, न कि लोगों की धार्मिक भावनाओ की अभिव्यक्ति-क्षमता के धारण।

जिस चर्च-धर्म का मिथ्यात्व लोग देख चुके थे उसमें उन्हें अब विश्वास नही रह गया था, और सच्चे ईसाई धर्म को स्वीकार करने में वे इसलिए असमर्थ थे क्योकि वह उनकी सपूर्ण जीवन पद्धति की भर्त्सना करता था। अब ये धन एव अधिकार-सपन्न जन, किसी धार्मिक विश्वास के अभाव में नि:सहाय होने के कारण अनिच्छया उस मूर्तिपूजक मत की ओर लौट आए जो व्यक्तिगत आनंदोपभोग मे जीवन का अर्थ निहित वताता है। और तत्पश्चात् उच्च वर्गो में विज्ञान और कला का पुनरुत्थान हुआ, जो वास्तव में न केवल प्रत्येक धर्म का अस्वीकार था वरन् धर्म की अनावश्यकता का दावा भी था।

चर्च-सिद्धांत ऐसी सुसवद्ध पद्धति है कि इसे विना पूर्णत: विनष्ट किए इसमे सुधार या परिवर्तन लाना असंभव है। पोप की अक्षरता के संवंध में जव संदेह उत्पन्न हुआ (उस समय यह संदेह सव शिक्षित लोगो के मस्तिष्क में था) तव परंपरा की सचाई पर भी अनिवार्यत: सन्देह उत्पन्न हुआ। परन्तु

परंपरा की सचाई पर सन्देह करना न केवल पोप-संस्था और कैथलिक मत के लिए घातक है वल्कि सपूर्ण चर्च-धर्म और उसके सभी मतों—ईसामसीह का देवत्व (पवित्रता), पुनर्जीवन, और त्रयी—के लिए भी; और यह धर्मशास्त्रों की सत्ता को नष्ट कर देता है क्योकि वे मात्र इसलिए प्रेरणा-प्रसूत (अपौरुषेय) समझे जाते थे क्योकि चर्च की परम्परा ने ऐसा ही निश्चित किया था।

इस प्रकार उस युग के उच्च वर्गों का वहुसख्यक समुदाय, यहाँ तक कि पोप और पादरी भी, वास्तव मे किसी चीज में विश्वास न करते थे। चर्च-सिद्धात में ये लोग अनास्था रखते थे क्योकि उसका दीवालियापन देख चुके थे; परन्तु ईसा की सदाचार और समाज सम्वन्धी शिक्षा को मानने के प्रश्न पर वे असीसी के फ्रासिस, शेल्जिक के पीटर,[1] और वहुत से नास्तिको का भी अनुगमन करने को तैयार न थे, क्योकि वह शिक्षा उनकी सामाजिक स्थिति का उन्मूलन करती थी। अत: इन लोगों के पास जीवन सम्वन्धी कोई भी धार्मिक विचार नही था; अतएव इनके पास कोई मानदण्ड भी न था जिसके द्वारा वे यह जान पाते कि कौन कला अच्छी है, कौन वुरी। इनके पास केवल व्यक्तिगत आनंदोपभोग का मानदण्ड था। और अच्छी चीज का मानदण्ड आनद अर्थात् सौंदर्य को स्वीकार कर लेने के वाद यूरोपीय समाज की उच्च श्रेणी के लोग अपने कला-वोध में प्राचीन ग्रीसवासियों की गर्हित धारणा की ओर लौटे, जिसका प्रतिवाद प्लेटो ने पहले ही किया था। और इस जीवन-वोध के अनुरूप एक कला सिद्धांत भी प्रतिपादित किया गया।

---

१. आनंदवादी शेल्जिक के पीटर जान हस के एक उत्तराधिकारी थे। १४५७ में वे "संयुक्त भ्रातृगण" नामक अप्रतिरोधियों के नायक थे। वे एक उल्लेख्य पुस्तक "विश्वास का जाल" के लेखक थे, जो चर्च और राज्य के विरुद्ध लिखी गई थी। इसका उल्लेख ताल्स्ताय की पुस्तक "ईश्वरीय राज्य आपके भीतर है" में हुआ है।—ऐ० मा०

सातवाँ परिच्छेद

[शासक-वर्ग के जीवन विषयक विचारों से मेल खानेवाला सौंदर्यवादी सिद्धान्त रचा गया।]

चर्च के ईसाई धर्म मे जव से लोगों ने विश्वास खो दिया, तव से सौंदर्य (अर्थात्, कला से प्राप्त आनंद) अच्छी-बुरी कला का उनका मानदण्ड हो गया। और इस विचार के अनुसार उन उच्च वर्गों में स्वभावत. एक सौदर्य सिद्धांत उत्पन्न हो गया, जो उस तरह की धारणा को न्याय्य प्रमाणित करता था—इस सिद्धान्त के अनुसार कला का लक्ष्य सौंदर्य-प्रदर्शन है। इस सौंदर्य-सिद्धांत के समर्थक, इसकी सचाई के प्रमाण म कहने लगे कि यह उनका निजी आविष्कार न था वरन् वस्तुओं की प्रकृति में विद्यमान था और प्राचीन ग्रीस-वासियों द्वारा मान्य था। परन्तु यह दावा मनमाना था और इस तथ्य के सिवा इसका और कोई आधार न था कि प्राचीन ग्रीसवासियों में, ईसाई आदर्श की अपेक्षा उनके नैतिक आदर्श के निम्न स्तर के फलस्वरूप, अच्छाई की धारणा उनकी सौंदर्य विपयक धारणा से अभी एकदम सुस्पष्ट रूप से अलग नहीं की गई थी।

अच्छाई की उच्चतम पूर्णता (न केवल सौदर्य से अभिन्नता ही नही वरन् उसके विपरीत होना) जिसे ईसाइयत के समय में ही यहूदी लोग जान चुके थे, और जिसे ईसाई-धर्म ने पूर्णतः व्यक्त किया था, ग्रीसवासियों को एक दम अज्ञात थी। उनकी कल्पना थी की सुन्दर वस्तु अनिवार्यत: शिव भी होनी चाहिए। यह सच है कि उनके प्रमुख विचारकों—सुकरात, प्लेटो, अरस्तू—ने अनुभव किया था कि यह सभव है कि शिव और सुन्दर समन्वित न हों। सुकरात ने स्पष्ट ही सौंदर्य को शिव के अधीन रक्खा; जव कि अरस्तू ने कला से यह माँग की कि लोगों पर उसका सदाचारपूर्ण प्रभाव पड़े। पर इन सवके वावजूद, वे इस धारणा से एक दम मुक्त नहीं हो सके कि सौदर्य और शिव समन्वित है।

फलतः उस युग की भाषा में एक संयुक्त शब्द (सौंदर्य-शिव) उस धारणा को व्यक्त करने के लिए प्रचलित हुआ।

प्रत्यक्ष है कि ग्रीस के विद्वान् बौद्ध और ईसाई-धर्म के व्यक्त अच्छाई (शिव) के बोध के प्रति आकृष्ट होने लगे, परन्तु सौंदर्य और शिव के संबंध की परिभाषा करते वक्त उलझन में पड़ गए। सुन्दर और शिव सबंधी प्लेटो की तर्कावली विरोधो से भरी है। विचारो की इसी उलझन को, परवर्ती युग के यूरोपवासियों ने (जो सारी आस्था खो चुके थे) एक विधान के रूप में प्रतिष्ठित करने का यत्न किया। उन्होंने यह सिद्ध करने की कोशिश की, कि वस्तुओ की प्रकृति का यह जन्मजात गुण है कि उनमे शिव और सुन्दर समन्वित रहें; कि शिव और सुन्दर को अवश्य ग्रथित होना चाहिए; कि 'सौदर्य-शिवता' नामक शब्द और विचार (जिसका ग्रीसवासियो के लिए एक अर्थ था, पर ईसाइयो के लिए जिसका कुछ भी अर्थ नही है) मानवता का उच्चतंम आदर्श है। इस भ्रम पर सौंदर्यबोध का नया विज्ञान निर्मित हुआ, और इसके अस्तित्व को वैध ठहराने के लिए प्राचीनों की कला विषयक शिक्षाएं इस तरह तोड़ी-मरोड़ी गई कि ऐसा प्रतीत हो कि यह आविष्कृत सौदर्य-विज्ञान ग्रीसवासियो के यहाँ पहले से ही था।

वास्तव में कला पर प्राचीनो का तर्क हमारे तर्कों की तरह न था। जैसा कि अरस्तू के सौंदर्यबोध पर लिखी हुई अपनी पुस्तक मे बेनार्ड ने उचित ही कहा है : 'ध्यान से देखने पर कोई भी समझ सकता है कि सौदर्य का सिद्धान्त और कला का सिद्धान्त अरस्तू में पृथक्-पृथक् वर्णित है। इसी प्रकार प्लेटो और उनके सभी अनुयायियो ने भी इन सिद्धान्तो की पृथक् सत्ता मानी है।'[1] और वस्तुत. प्राचीनो का कला विषयक तर्क न केवल हमारे सौदर्य-विज्ञान का समर्थन नही करता, वरन् इसके सौन्दर्य-सिद्धान्त का खण्डन भी करता है। फिर भी सौन्दर्य बोध के सभी पथ-प्रदर्शक, शैसलर से नाइट तक, यह घोषित करते है कि सुन्दर का विज्ञान—सौन्दर्यबोध का विज्ञान—सुकरात, प्लेटो, अरस्तू आदि प्राचीनों द्वारा प्रारंभ किया गया और किसी हद तक भोगवादियो और विरक्तो द्वारा, सेनेका और पलूटार्क द्वारा, यहाँ तक कि प्लोटिनस प्रभृति आचार्यों द्वारा जारी रखा गया। परन्तु यह अनुमान लगाया जाता है कि किसी दुर्भाग्यपूर्ण दुर्घटना के कारण यह विज्ञान एकाएक चौथी शताब्दी में गायब हो

---

१. "अरस्तू और उनके परवर्तियों का सौन्दर्यज्ञान", पेरिस १८८६, पृ० २८।

गया और करीव १५०० साल तक गायव रहा और इन १५०० वर्षों के निकल जाने के वाद १७५० में वामगार्टेन के सिद्धान्त में पुनः जीवित हुआ।

शैसलर का कथन है कि प्लोटिनस के वाद १५०० वर्ष ऐसे बीत गए जिनमे कला और सौंदर्य जगत् के प्रति रंच भी वैज्ञानिक रुचि नहीं दिखाई गई। उनका कथन है कि ये डेढ़ हजार वर्ष सौंदर्यशास्त्रियो द्वारा खो दिए गए और उन्होंने इस विज्ञान के पण्डित्यपूर्ण भवन-निर्माण में कुछ भी योग नही दिया।[1]

वस्तुतः ऐसी कोई वात नही हुई। सौंदर्यशास्त्र का विज्ञान, सुन्दर का विज्ञान, न तो लुप्त हुआ न लुप्त हो सकता था, क्योंकि उसका कभी अस्तित्व ही न था। ग्रीसवासी (ठीक सवकी तरह, सदैव और सर्वत्र) कला को (प्रत्येक वस्तु की तरह) तभी अच्छी समझते थे, जव वह शिव-साधक होती थी ('शिव' की उनकी धारणा के अनुसार), और यदि कला इस शिवता के विरुद्ध होती थी तो उसे बुरी समझते थे। और नैतिक दृष्टि से ग्रीसवासी इतने कम विकसित थे कि उन्हें अच्छाई और सौन्दर्य समन्वित होते मालूम पड़ते थ। ग्रीसवालों की उस दकियानूसी जीवन-दृष्टि पर सौंदर्यबोध का विज्ञान निर्मित किया गया

---

१. १५०० वर्षों का व्यवधान, जो प्लेटो और अरस्तू के कलात्मक-दर्शनवादी विचारों और प्लोटिनस के विचारों के वीच पड़ गया, वस्तुतः आश्चर्यजनक लग सकता है, परन्तु हम यह निश्चित रूप से नहीं कह सकते कि इस काल में सौन्दर्य संबंधी विषयों की विल्कुल चर्चा नहीं हुई; न तो यही कह सकते हैं कि प्लोटिनस के कला-विचारों में और प्लेटो-अरस्तू के विचारों में एकदम असामंजस्य है। यह सच है कि अरस्तू द्वारा स्थापित विज्ञान इसके द्वारा किसी प्रकार आगे नहीं वढ़ा; तथापि इस काल म सौन्दर्य संवंधी प्रश्नों में कुछ रुचि दिखाई पड़ती है। परन्तु प्लोटिनस के वाद (समय की दृष्टि से उनके समीप के कुछ दार्शनिकों—लांगिनस, आगस्टिनस, आदि—का कोई प्रश्न ही नहीं है, यह हम देख चुके हैं, और फिर, इनके विचार प्लोटिनस के से ही हैं) पाँच नहीं वल्कि ऐसी १५ शताब्दियाँ निकल गईं जिनमें कला और सौन्दर्य-जगत् के प्रति किसी प्रकार की वैज्ञानिक अभिरुचि का संकेत नहीं मिलता।

ये डेढ़ हजार वर्ष, जिनके बीच विश्वात्मा ने जीवन की एकदम नई नींव वना डाली, सौन्दर्यशास्त्र के लिए व्यर्थ रहे—जहाँ तक इस विज्ञान की समृद्धि का प्रश्न है। ('सौन्दर्य मीमांसा',—मैक्सशैसलर, वर्लिन, १८७२, पृ० २५३§२५)।

था, जिसके आविष्कर्ता १८ वीं शताब्दी के लोग थे, और जो विशेष रूप से बामगार्टेन के सिद्धात में सुडौल बनाकर प्रतिष्ठित किया गया। ग्रीसवासियों के पास सौंदर्य बोध का विज्ञान कभी न था (जैसा कि अरस्तू और उनके परवर्त्तियो पर बेनार्ड-लिखित प्रशंसनीय पुस्तक और प्लेटो पर वाल्टर की पुस्तक पढ़ने वाले देख सकते हैं।)

करीब डेढ सौ साल पहले योरोप के ईसाई जगत् के धनिक वर्गों में और साथ ही विभिन्न राष्ट्रों में भी—जर्मनी, इटली, हालैंड, फ्रांस और इंग्लैंड में—सौंदर्य-सिद्धात उदित हुए। इसके सस्थापक और सयोजक बामगार्टेन थे जिन्होने इसे वैज्ञानिक और सैद्धांतिक रूप प्रदान किया।

इस असाधारण सिद्धात का संघटन और प्रतिपादन उन्होंने उस वाह्य यथातथ्यता, पाण्डित्य और एकरूपता के साथ किया जो जर्मन लोगों की विशिष्टता है। और इसकी प्रत्यक्ष सारहीनता के बावजूद किसी और का सिद्धांत सस्कृत लोगो को इतना पसन्द नही था और न इतनी जल्दी बगैर आलोचना के उन्हें स्वीकार्य होता था। यह सिद्धांत उच्च श्रेणी के लोगो के इतने काम का था कि, इसके एक दम ऊलजलूल दावों और मिथ्या स्वरूप के बावजूद, अब तक यह विद्वानो और मूर्खों द्वारा दुहराया जाता है मानो यह कोई स्वयंसिद्ध, असदिग्ध चीज हो।

पुस्तको का भाग्य पाठक के सिर पर निर्भर है। इसलिए, या इसीलिए अधिक, सिद्धांतों का भाग्य उस त्रुटि के अनुसार निर्भर करता है जिसमें वह समाज रहता है, जिसके लिए सिद्धांत आविष्कृत होते हैं। यदि कोई सिद्धांत उस मिथ्या स्थिति को जायज करार देता है जिसमें किसी समाज का एक भाग रह रहा है, तब कितना भी निराधार और प्रत्यक्षतः मिथ्या वह सिद्धात हो, वह स्वीकार कर लिया जाता है और समाज के उस भाग के लिए विश्वास की चीज हो जाता है। उदाहरणार्थ मैल्थस द्वारा प्रतिपादित, निराधार और प्रख्यात सिद्धांत ऐसा ही था कि ससार की आबादी ज्योमिति (रेखागणित) की प्रगति के अनुसार बढ़ने की प्रवृत्ति रखती है परन्तु जीवन-निर्वाह के साधन केवल अकगणित की प्रगति के अनुसार बढ़ने की प्रवृत्ति रखते हैं, इसलिए ससार में आबादी की अधिकता होती है; मानव प्रगति के आधार स्वरूप चुनाव और अस्तित्व के लिए संघर्ष का सिद्धांत भी ऐसा ही था (जो कि मैल्थसवाद की एक उपज था)। मार्क्स का सिद्धांत भी ऐसा था, जो यह मानता है कि छोटे

व्यक्तिगत उत्पादन का बड़े पूँजीवादी उत्पादन द्वारा इस समय हो रहा विनाश, भाग्य का अनिवार्य विधान है। भले ही ये सिद्धान्त निराधार हों, मानवता द्वारा अर्जित ज्ञान और विश्वास के विपरीत हों, और प्रत्यक्षतः कितने ही अनैतिक हों, इन्हें विश्वासपूर्वक स्वीकार कर लिया जाता है, इनकी आलोचना नहीं होती, और शताब्दियो तक इनका प्रचार किया जाता है और एक दिन ऐसा आता है कि वे स्थितियाँ नष्ट हो चुकी रहती हैं जिन्हें न्याय्य ठहराने के निमित्त वे सिद्धान्त यत्नवान् रहते थे, या इन सिद्धान्तों की वेहूदगी एकदम जाहिर हो जाती है। वामगार्टेन की त्रयी का आश्चर्यजनक सिद्धान्त इसी श्रेणी का है: शिव, सुन्दर और सत्य, जिसके अनुसार यह मालूम होता है कि १६०० वर्षो की ईसाई शिक्षा के वाद राष्ट्रो द्वारा सर्वोत्तम कार्य यही हो सकता है कि वे अपने जीवन का आदर्श उस आदर्श को चुनें जो एक छोटे, अर्द्ध-वर्वर और गुलाम रखनेवाले समुदाय द्वारा मान्य था, जो २००० वर्ष पहले रहता था, नग्न मानव देह की अच्छी अनुकृति करता था, और सुदर्शन भवन निर्मित करता था। इन सारी असंगतियों की ओर किसी का ध्यान नहीं जाता। विद्वज्जन लंवी, गूढ़ सौंदर्य-विवेचनाएँ लिखते हैं, जैसे वह सौदर्यात्मिक त्रयी : सौदर्य, सत्य और शिव का सदस्य हो; इन तीनो की महत्त्वपूर्ण ढंग से निरंतर आवृत्ति दार्शनिकों, सौदर्यशास्त्रियों, कलाकारों, व्यक्तिगत लोगों, उन्यासकारों द्वारा की जाती है। और जव वे इन पवित्र शब्दों का उच्चारण करते हैं तव समझते है कि हम किसी निश्चित, ठोस चीज के विपय मे वता रहे हैं—कोई ऐसी चीज जिसपर वे अपनी सम्मतियाँ आवृत कर सकते हैं। वास्तव में वे शव्द न केवल अर्थहीन होते हैं वरन् विद्यमान कला का कोई निश्चित अर्थ लगाने में वाधा भी डालते हैं; वे शव्द केवल इसलिए अपेक्षित हैं कि उस मिथ्या महत्त्व को जायज करार दें जो हम उस कला को देते है, जो हमे आनंद प्रदान करनेवाली हर तरह की भावना को प्रेपित करती है।'

---

१. 'कला क्या है ?' का अनुवाद मैंने ताल्स्ताय की पाण्डुलिपि से किया था, जिसे लिखते वक्त उन्होंने मुझे एक-एक परिच्छेद करके भेजा था। उन्होंने अपनी पुस्तक का इस हद तक संशोधन किया कि कुछ परिच्छेदों को तो उन्होंने मेरे पास अनुवादार्थ भेजने के वाद तीन-तीन वार लिखा। इस परिच्छेद के पहले के एक संस्करण के निम्नलिखित अंश रक्षणीय हैं, जिन्हें उन्होंने अपने अंतिम संशोधित

संस्करण में नहीं रक्खा, रक्षणीय है। अतः मैं उन अंशों को यहां पाद-टिप्पणी में दे रहा हूँ।

'बामगार्टेन द्वारा उपस्थित की गई सत्य-शिव-सुन्दर की त्रयी को धर्म की त्रयी की तरह सत्य मानने की आदत से हमें क्षण भर के लिए अपने को बचाने की आवश्यकता है और अपने से केवल यह पूछने की आवश्यकता है कि हमने इस त्रयी के शब्दों से हमेशा क्या समझा है, और इससे विश्वस्त होने की आवश्यकता है कि तीन एकदम पृथक् शब्दों और विचारों का एक में ग्रंथन एकदम असंभव है, क्योंकि अर्थ की दृष्टि से भी इन शब्दों में सामंजस्य नहीं है।'

'सत्य, शिव, सुन्दर को एक ही स्तर पर रक्खा जाता है, और तीनों विचारों की ऐसी विवेचना की जाती है मानों वे आधारभूत और मानसिक हों; जब कि वास्तव में ऐसी स्थिति एकदम नहीं है।'

'शिव हमारे जीवन का शाश्वत एवं महत्तम लक्ष्य है। हम 'शिव' को किसी भी तरह समझें, हमारा जीवन और कुछ नहीं, शिव अर्थात् ईश्वर की ओर अग्रसर होने का प्रयास है।'

'शिव वास्तव में वह आधारभूत दार्शनिक दृष्टि है जो हमारी चेतना का तत्व है : ऐसा बोध है जिसे बुद्धि परिभाषित नहीं कर सकती।'

'शिव वह है जो अन्य किसी चीज से परिभाषित नहीं किया जा सकता, परन्तु जो हर चीज की परिभाषा कर देता है।'

'परन्तु सौंदर्य—यदि हम केवल शब्दाडम्बर नहीं चाहते वरन् जो हमने समझा है उसे बताते हैं तो—और कुछ नहीं, केवल वह है जो हमें प्रसन्न करता है'। सौन्दर्य की धारणा न केवल शिव से मेल नहीं खाती, वरन् उसकी विरोधी है; क्योंकि 'शिव' अधिकतर वासनाओं पर विजय है, जब कि सौन्दर्य हमारी वासनाओं का मूल है।'

'हम जितना ही अधिक सौन्दर्य पर समर्पित होते हैं, उतना ही अधिक शिव से दूर हो जाते हैं। मैं जानता हूं कि इसके उत्तर में लोग हमेशा कहते हैं कि एक नैतिक और आध्यात्मिक सौन्दर्य भी होता है, परन्तु यह तो शब्दों का खिलवाड़ मात्र है, क्योंकि आध्यात्मिक और नैतिक सौन्दर्य का अर्थ और कुछ नहीं केवल 'शिव' समझा जाता है। अधिकतर, आत्मा का सौन्दर्य, या शिव, केवल उससे मेल नहीं खाता जिसे सामान्यतः सौन्दर्य समझा जाता है वरन् उसका विरोधी है।'

'जहाँतक सत्य का प्रश्न है—त्रयी के इस सदस्य का शिव से तादात्म्य तो हम और भी कम सिद्ध कर सकते हैं, इसका स्वतंत्र अस्तित्व मानने को हम प्रस्तुत नहीं।

'सत्य से हमारा तात्पर्य केवल किसी अभिव्यक्ति या वस्तु की परिभाषा से यथार्थ का अथवा उस वस्तु विषयक सामान्य बोध का सामंजस्य है। अतः 'शिव' की उपलब्धि का यह एक साधन है। परन्तु सौन्दर्य और सत्य की धारणाओं और शिव की धारणा के बीच कौन-सी समानता अथवा एकता है? जान बूझ कर खीझ उत्पन्न करने के लिए बोले गए सत्य का सामंजस्य शिव से नहीं होता।

'न केवल सौंदर्य और सत्य की भावनाएँ शिव की भावना के समान नही हैं, और न केवल वे शिव से मिल कर 'एक' सत्ता नहीं बनती हैं, वरन् वे उससे मेल ही नहीं खातीं। उदाहरणार्थ सुकरात और पैस्कल प्रभृति अन्यान्य लोग यह समझते थे कि अनावश्यक वस्तुओं के विषय में सत्य की जानकारी प्राप्त करना 'शिव' के अनुरूप नहीं है। सौंदर्य से न केवल सत्य की कोई भी बात समान नहीं है, वरन् अधिकांश उसके विरोध में है, क्योंकि सत्य अधिकतर भ्रम का पर्दा फाश करता है और मिथ्या प्रतीति को नष्ट करता है जो सौंदर्य की एक प्रमुख शर्त है।

'और देखिए! और इन तीन धारणाओं का एक में मनमाना एकीकरण जो कि परस्पर सदृश नहीं वरन् विजातीय है, उस आश्चर्यजनक सिद्धांत का आधार बन गया है जिसके अनुसार अच्छी भावना प्रेषित करनेवाली कला और बुरी भावना प्रेषित करनेवाली कला का अंतर पूर्णतया मिटा दिया जाता है, और कला का एक निम्नतम प्रकार, मात्र आनन्दोपभोग के लिए—वह कला जिसके विरुद्ध मानवता के सभी शिक्षकों ने मानव-जाति को चेतावनी दी है—श्रेष्ठतम कला समझी जाने लगी है।'

तालस्ताय ने इन अंशों को क्यों निकाल दिया यह अनिश्चित है। ये अंश उनकी इस विचारणा को स्पष्टतया व्यक्त करते हैं कि सत्य, शिव, सुन्दर एक नहीं बल्कि तीन विभिन्न धारणाएं हैं। शायद उन्होंने यह देखा कि सौन्दर्य सम्बन्धी उनके शब्द, यदि संदर्भ से निकाल दिए जायँ, तो इस भ्रम के समर्थन में प्रयुक्त किए जा सकते हैं कि कला की परिभाषा बनाने में उनके द्वारा 'सौन्दर्य' शब्द का त्याग, इस तथ्य से नहीं प्रेरित था कि सौन्दर्य स्वयं ऐसा शब्द है जिसे परिभाषा की अपेक्षा है, वरन् इससे प्रेरित था कि वह 'सौन्दर्य से घृणा करते थे' जैसा कि कुछ आलोचकों ने मूर्खतावश कह दिया है।—ऐ० मा०

आठवाँ परिच्छेद

[इस सौंदर्यवादी सिद्धांत को किसने स्वीकार किया—सच्ची कला सभी लोगों के लिये आवश्यक है—हमारी कला जनता के लिए बड़ी खर्चीली, बहुत दुर्बोध, बहुत हानिकर है—कला में 'विशिष्ट जन' का सिद्धांत ।]

परन्तु यदि कला एक मानवी व्यापार है जिसका प्रयोजन अन्यों तक उन श्रेष्ठतम और महत्तम भावनाओं का प्रेषण है, जिनके पास तक मानव पहुँचे हैं, तो यह कैसे हुआ कि अपने जीवन की एक बड़ी अवधि तक मानवता (जिस समय से लोगो ने चर्च के सिद्धात में विश्वास करना छोड़ दिया उस समय से अब तक) इस महत्त्वपूर्ण कार्य के बिना रह गई, और उसकी जगह केवल आनंद-प्रदायक एक नगण्य कलात्मक क्रिया को बर्दाश्त करने लगी ?

इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए सर्वप्रथम यह आवश्यक है कि हमारी कला को सच्ची, सार्वभौम कला का महत्त्व देने की लोगों द्वारा की जानेवाली वर्तमान त्रुटि का परिमार्जन किया जाय । हम सरलतापूर्वक न केवल सरकेशियन परिवार को सर्वोत्तम वंश समझने के अभ्यस्त हो गये हैं, बल्कि यदि हम अंग्रेज या अमेरिकन है तो ऐंग्लो-सैक्सन जाति को भी, यदि हम जर्मन है तो ट्यूटानिक जाति को, फ्रासीसी है तो गैलो-लैटिन जाति को, और यदि हम रूसी हैं तो स्लैवोनिक जाति को सर्वोत्तम समझने के भी ऐसे अभ्यासी हो गए है कि जब हम अपनी कला के विषय में बोलने लगते है, तब हमें न केवल यह विश्वास रहता है कि हमारी कला सच्ची कला है, बल्कि यह भी कि यही सर्वोत्तम और एकमात्र सच्ची कला है। परन्तु यथार्थ में न केवल हमारी कला एकमात्र कला नही है (जिस प्रकार कभी बाइबिल ही एकमात्र पुस्तक समझी जाती थी)—यह पूरे ईसाई समाज की भी कला नही है, वरन् केवल हमारी ओर की मानव-जाति के एक छोटे से समूह की कला है । यहूदी, ग्रीक या मिश्री राष्ट्रीय कला के विषय में बोलना तो ठीक था ही; अब विद्यमान, एक पूरे देश द्वारा मान्य चीनी, जापानी या भारतीय कला के विषय में भी हम कुछ कह सकते हैं । सम्पूर्ण राष्ट्र-सुलभ ऐसी कला पीटर प्रथम के समय तक रूस में वर्तमान थी और १३ वीं–१४ वीं शती तक शेष यूरोप में प्रचलित थी, परन्तु क्योंकि

यूरोपीय समाज की उच्च श्रेणियों ने, चर्च-शिक्षा में आस्था खो देने के कारण, वास्तविक ईसाई-धर्म को नहीं स्वीकार किया, बल्कि वे धर्महीन बनी रहीं; इसलिए हम सम्पूर्ण कला के अर्थ में ईसाई राष्ट्रों की एक कला की बात नहीं कर सकते। क्योंकि ईसाई देशों के उच्चवर्ग चर्च-ईसाइयत में विश्वास खो बैठे थे, अतः उन उच्चवर्गों की कला शेष लोगों की कला से अलग हो गई और दो कलाएँ हो गईं—जनता की कला और अभिजातवर्ग की कला। इसलिए—कैसे मानवता एक लंबी अवधि तक सच्ची कला के बगैर रह गई, और सच्ची कला के स्थान में केवल आनंदसाधक कला प्रतिष्ठित हो गई, इस प्रश्न का उत्तर यह है कि पूरी मानवजाति या मानवजाति का एक बहुत बड़ा भाग भी, सच्ची कला बगैर नहीं रहा; बल्कि यूरोपीय ईसाई समाज के केवल महत्तमवर्ग, और वे भी अपेक्षाकृत बहुत कम समय के लिए, सच्ची कला बगैर रह गए—पुनरुत्थान के प्रारंभ से से लेकर आज तक।

इस सच्ची कला की अनुपस्थिति का परिणाम इस वर्ग की भ्रष्टता में दुर्निवार रूप से दिखाई पड़ा, क्योंकि इसका पालन मिथ्या कला पर हुआ था। सब जटिल और दुर्बोध कला-सिद्धांत, कला-विषयक सब असत्य और विरोधी निर्णय—और विशेषकर मिथ्या मार्गों में हमारी कला की आत्मपरायण अगति—इस दावे से उत्पन्न होते हैं, जो सामान्य व्यवहार में आ गया है और असंदिग्ध सत्य के रूप में स्वीकृत होता है परन्तु फिर भी आश्चर्यजनक और प्रत्यक्ष ढंग से, असत्य है। वह दावा यह है कि हमारे उच्चवर्गों[1] की कला ही संपूर्ण कला है: सत्य, एकमात्र, सार्वभौम कला। और यद्यपि यह दावा (जो ठीक उस दावेकी तरह है जो विविध चर्चों के उन अधार्मिक लोगो द्वारा किया जाता था, जो अपने ही धर्म को एकमात्र सत्य-धर्म समझते थे) पूर्णतः मनमाना और प्रत्यक्ष ही अन्याय्य है, तथापि इसकी अमोघता में पूर्ण विश्वास के साथ हमारे समाज के सब लोग शांतिपूर्वक इसे दुहराते हैं।

जो कला हमारे पास है वही संपूर्ण कला है, सच्ची, एकमात्र कला है, फ़िर भी मानवजाति का दो-तिहाई भाग (एशिया और अफ्रीका की सारी जनता)

---

१. यह अंतर अभिजात वर्ग और सामान्य जनता में किया गया है: उनके बीच, जो अपनी रोटी उत्पादनात्मक शारीरिक श्रम से स्वयं कमाते हैं और जो नहीं कमाते। मध्य वर्ग को अभिजात वर्ग की एक प्रशाखा मान लिया गया है।—ऐ० मा०

इस एकमात्र, परमश्रेष्ठ कला के विषय में कुछ भी जाने बगर जीवित है और मर भी जाता है। और हमारे ईसाई समाज में भी मुश्किल से १% लोग इस कला का व्यवहार करते हैं, जिसे हम संपूर्ण कला कहते हैं, शेष ९९% इस कला को, जो ऐसी है कि यदि वे इसे पा भी सकें तो इसे रंच भी समझ न सकेंगे, कभी चखे बगैर, श्रम से चूर, पीढ़ी दर पीढ़ी जीते-मरते जाते हैं। वर्तमान सौंदर्य सिद्धान्त के अनुसार, हम कला को या तो भावना या ईश्वर, या सौदर्य की एक सर्वोच्च अभिव्यक्ति समझते हैं या सर्वश्रेष्ठ आध्यात्मिक आनंदोपभोग; और हमारा यह भी विश्वास है कि सब लोगो के अधिकार समान है, यदि भौतिक सुख समृद्धि पर नही, तो कम से कम आध्यात्मिक समृद्धि पर अवश्य, तथापि हमारी यूरोपीय जनता का ९९% भाग उस श्रम से जर्जर होकर—पीढ़ी दर पीढ़ी जीता-मरता है जिसका अधिकाश हमारी कला के उत्पादनार्थ अपेक्षित है और जिस कला को वे कभी प्रयुक्त नही करते, और इन सब बातों के होते हुए भी हम शान्ति-पूर्वक दावा करते हैं कि जो कला हम रचते हैं वही सच्ची, वास्तविक, और एकमात्र कला है—उसमें सब कुछ कला का है।

यदि हमारी कला सच्ची कला है तो उसका लाभ सबको मिलना चाहिए—इस प्रश्न का उत्तर प्रायः यह मिलता है कि आज का प्रत्येक व्यक्ति यदि विद्यमान कला का प्रयोग नही करता, तो दोष कला का नहीं है वरन् समाज के गलत संगठन का है; हम भविष्य में ऐसी स्थिति की कल्पना कर सकते हैं, जिसमें शारीरिक श्रम अंशतः मशीनों द्वारा कम कर दिया जायगा, अंशतः न्यायपूर्ण-वितरण द्वारा हलका कर दिया जाएगा, और कला-निर्माण के लिए परिश्रम बारी-बारी लिया जायगा : इसकी कोई जरूरत न रह जाएगी कि कुछ लोग हमेशा मंच के नीचे बैठे रहें, सजावट संचालित करते रहें, यंत्र समेटते रहें, पियानो या फ्रांसीसी श्रृंगी बजाते रहें, टाइप जमाते और पुस्तकें छापते रहें; बल्कि जो लोग यह सब काम करते हैं वे प्रति दिन कुछ ही घंटो के लिए इन कामों में लगाए जायँगे, और अपने अवकाश के समय में कला के सब आनंदो का आस्वाद करेंगे।

ऐकान्तिक कला के हिमायती यह कहते है; परन्तु मैं समझता हूँ कि वे स्वयं इसमें विश्वास नही करते। वे अवश्य जानते हैं कि बहुसंख्यक लोगों की गुलामी के फलस्वरूप ही ललित कला का जन्म हो सकता है, और वह कला तभी तक जारी रह सकती है जब तक कि उक्त गुलामी बनी रहती है; वे यह भी

जानते हैं कि मजदूरों के कठिनतम कष्टों के फलस्वरूप ही विशेषज्ञ लोग—लेखक, संगीतज्ञ, नर्तक और अभिनेतागण—पूर्णता की उस सुन्दर मात्रा तक पहुँचते हे जिसे वे उपलब्ध करते हे, या अपनी परिमार्जित कलाकृतियाँ रचते हे; और यह भी वे जानते हैं कि केवल उन्ही स्थितियों में ऐसी रचनाग्रो के आस्वादार्थ सस्कृत जन आ सकते हैं। पूँजी के गुलामों को मुक्त कर दीजिए, तव देखिएगा कि ऐसी परिमार्जित कला-सृष्टि असम्भव है।

परन्तु यदि हम अस्वीकार्य को भी स्वीकार कर लें और कहें कि ऐसे साधन पाए जा सकते हे जिनके द्वारा कला (वह कला जो हम लोगों में कला समझी जाती है) सर्वजन सुलभ बनाई जा सकती है, तव दूसरा विचार सामने आता है कि सुरुचिपूर्ण कला ही संपूर्ण कला नही हो सकती, अर्थात् लोगो के लिए यह पूर्णतः अवोध्य रहेगी। पहले लोग लैटिन में कविता लिखते थे, पर अव उनको कलात्मक रचनाएँ सामान्य जन के लिए ऐसी अवोधगम्य हो गई हे मानो वे सस्कृत में लिखी गई हों। इसका साधारणतः यह उत्तर दिया जाता है कि यदि अभी लोग हमारी इस कला को नही समझते, तो इससे यही प्रमाणित होता है कि वे अविकसित हैं, और कला के द्वारा आगे रखे गए प्रत्येक नये चरण पर ऐसा होता रहा है। पहले पहल कला कभी नहीं समझी गई है, परन्तु वाद मे लोग उसके अभ्यस्त हो गए हैं।

यही वात हमारी वर्तमान कला पर लागू होती है; यह तभो समझी जाएगी जव प्रत्येक व्यक्ति उतना ही सुशिक्षित हो जाएगा जितने कि हम लोग हे—उच्च श्रेणी के लोग—जो इस कला का निर्माण करते हे। यह कथन हमारी कला के हिमायतियों का है। परन्तु यह दावा पिछले दावे से कहीं अधिक असत्य है, क्यों कि हम जानते हैं कि, उच्च वर्ग की कला सृष्टियो का अधिकांश—विविध संवोधन गीत, कविताएँ, नाटक, चित्र, ग्वालों के गीत, एकाकी गीत आदि—जिन्होंने अपनी रचना के समय अभिजात वर्गो को आनंदित किया, उसके वाद कभी मानव-जाति के विशाल जन-समुदाय ारा न तो समझा गया, न उन्हें मूल्यवान् समझा गया; वल्कि वे अव भी वही हे जो पहले थे अर्थात् अपने युग के धनिकों के मनोरजन मात्र, केवल जिन धनिको के लिए सदा वे कुछ महत्त्वपूर्ण रहे। कभी-कभी इस दावे के प्रमाण में यह भी कहा जाता है कि लोग किसी दिन हमारी कला को समझेंगे, कि तथाकथित प्राचीन काव्य, संगीत, चित्राकन की कुछ रचनाएँ, जो पहले जनता को आनंदित नही करती थी, अव—जव कि हर

ओर से उन्हें ये रचनाएँ दी गई—उसी जनता को आनंदित करने लगी हैं; परन्तु इससे तो यही दिखाई पड़ता है कि भीड, विशेषकर नगर की अर्धभ्रष्ट भीड़, आसानी से किसी भी प्रकार की कला की अभ्यस्त हो सकती है (क्योंकि उसकी रुचि विकृत हो चुकी है)। फिर, यह कला इन मानव-समूहो द्वारा नही रची जाती, न उनके द्वारा चुनी ही जाती है, बल्कि शक्तिपूर्वक उन जन-स्थलों मे उन पर लादी जाती है जहाँ कला सर्वसाधारण के लिए सुलभ है। मिहनत करनेवाले विशाल जन-समुदाय के लिए हमारी कला, खर्चीली होने के कारण दुर्लभ होने के साथ ही, प्रकृत्या विचित्र है क्योंकि यह उन लोगों की भावनाएँ प्रेषित करती है जो श्रमपूर्ण जीवन की उन दशाओ से बहुत दूर है जो मानवता के विशाल अंश के लिए स्वाभाविक हैं। धनिक वर्ग के एक व्यक्ति के लिए जो चीज आनंदोपभोग है वह श्रमिक के लिए आनंद के रूप में अबोध्य है, और या तो उसमें कोई भावना उत्पन्न ही नही करती या उत्पन्न करती है तो ऐसी भावना जो कि आरामतलब, परितृप्त व्यक्ति में उठनेवाली भावना के विपरीत होती है। भावनाएँ आज की कला की प्रमुख विषय वस्तु हैं—जैसे सम्मान,[1] देशभक्ति, और शृंगारप्रियता—एक श्रमिक के भीतर उलझन, घृणा और क्रोध उत्पन्न करती हैं। अतः यदि श्रमिक वर्ग को उनके अवकाश के समय मे समकालीन कला का श्रेष्ठतम कृतित्व देखने, पढने, सुनने की सम्भावना दे भी दी जाय (जैसा कि किसी हद तक शहरो में चित्रालयो, जनप्रिय संगीत-समारोहो तथा पुस्तकालयो द्वारा किया जाता है) तो श्रमिक व्यक्ति (जिस हद तक वह मजदूर है, और आलस्य द्वारा विभ्रष्ट लोगो की कोटि में नही पहुँचा है, उस हद तक) हमारी ललित-कला का रंच भी अर्थ न समझ सकेगा, और यदि वह उसे समझ भी ले, तो उसका बोध उसकी आत्मा का उत्थान न करेगा बल्कि बहुधा उसे विकृत अवश्य करेगा। अतएव विचारशील और सत्यनिष्ठ व्यक्तियों को इसमें संदेह हो ही नही सकता कि हमारे उच्च वर्गों की कला समस्त जनता की कला हो सकती हैं। परन्तु यदि यह कला महत्त्वपूर्ण विषय है, सब के लिए अनिवार्य आध्यात्मिक वरदान है (धर्म की तरह, जैसा कि कला के भक्त कहना चाहेंगे), तब वह सर्वसुलभ होनी चाहिए। और यदि, आज की तरह, वह सर्वसुलभ

---

१. जब यह लिखा गया उस समय द्वन्द्व-युद्ध का प्रचलन महाद्वीप के अन्य देशों की तरह रूस में भी था।—ऐं० मा०

नही है तब या तो कला वह जीवंत तत्त्व नहीं जो उसे चित्रित किया जाता है, या वह कला वास्तविक चीज़ नही है जिसे हम कला कहते हैं।

यह द्विधा अनिवार्य है अतएव चालाक और सदाचारी लोग इसके एक पक्ष को अस्वीकार करके इससे बचते हैं, अर्थात् यह अस्वीकार करते हैं कि जन-साधारण का भी कला पर अधिकार है। ये लोग सरलता और उद्दण्डतापूर्वक कहते हैं कि (यही इस विषय की सचाई है) उनकी मान्यतानुसार अत्यधिक सुन्दर कला के, अर्थात् जो अधिकतम आनंद प्रदान करती है उस कला के, प्रयोक्ता और उसमें भागी केवल कुछ गिने-चुने लोग हो सकते हैं, जैसा कि उन्हें स्वच्छंदतावादी लोग कहते थे, 'सम्भ्रान्त' जैसा कि वे नीत्शे के अनुयायियो द्वारा कहे जाते हैं; जो निम्नस्तर का समुदाय इन आनंदों का अनुभव करने में असमर्थ है, श्रेष्ठतर कुलीनतावाले लोगों के उन्नत आनंदों का संयोजन करें। जो लोग इन विचारों को व्यक्त करते हैं कम से कम छद्म नहीं करते, और विषमताओं को सहन नही करना चाहते, वल्कि निर्भीकतापूर्वक यह तथ्य स्वीकार करते हैं कि हमारी कला केवल अभिजात वर्गों की कला है। और वास्तव में कला इसी रूप में उस प्रत्येक व्यक्ति द्वारा समझी गई है और समझी जाती है जो हमारे समाज में इससे संलग्न है।

नवाँ परिच्छेद

[हमारी कला का विदूषण—यह अपनी प्राकृतिक विषय-वस्तु खो चुकी है —नवीन भावना का प्रभाव इसमें नही—तीन निम्न मनोवेगों को प्रसारित करती है।]

यूरोपीय संसार के अभिजात वर्गों के इस अविश्वास का यह परिणाम हुआ कि मानवता द्वारा अर्जित, धार्मिक वोध से उत्पन्न, श्रेष्ठतम भावनाओ का प्रेषण जिस कला का लक्ष्य है, उसकी जगह हमारे पास वह क्रिया है जिसका

लक्ष्य समाज के एक विशिष्ट वर्ग को महत्तम आनंद प्रदान करना हैं। और कला के सपूर्ण विशाल राज्य से वही अश चौहद्दी बाँधकर अलग कर दिया गया है, और केवल उसी को कला कहा जाता है जो इस विशिष्ट श्रेणी के लोगों को आनन्द प्रदान करता है।

जो इस प्रकार के मूल्यांकन का पात्र न था, सपूर्ण कलाक्षेत्र से उसके इस तरह के चुनाव का जो नैतिक प्रभाव यूरोपीय समाज पर पड़ा और उसकी महत्ता का स्वीकार हुआ उसके अलावा इस कला-दूषण ने स्वयं कला को दुर्वल बना दिया और प्रायः विनष्ट कर दिया। इसका प्रथम वड़ा परिणाम यह हुआ कि कला अपने अनुरूप अनंत, विविध एवं गंभीर धार्मिक विषय-वस्तु से वंचित हो गई। दूसरा परिणाम यह हुआ कि, थोड़े से ही लोगों को ध्यान में रखने के कारण, कला अपनी रूपात्मक सुन्दरता खो बैठी और कृत्रिम एवं दुरूह हो गई; और तीसरा और प्रमुख परिणाम यह हुआ कि कला स्वाभाविक तथा निष्ठात्मक न रही और पूर्णतया वनावटी और बुद्धि-प्रसूत हो गई।

प्रथम परिणाम—विषय वस्तु का दारिद्रय—इसलिए हुआ क्योकि सच्ची कलाकृति वही है जो मनुष्यों द्वारा अननुभूतपूर्व नई भावनाओ को प्रेषित करती है। जिस प्रकार विचार-प्रसूत रचना तभी वास्तविक होती है जब वह नये विचार और नई धारणाएँ प्रदान (प्रेषित) करती है और केवल पूर्वज्ञात तथ्य की पुनरावृत्ति नही करती, उसी प्रकार कोई कलाकृति तभी वास्तविक कलाकृति होती है जब वह मानव जीवन के प्रभाव में नई भावना लाती है (चाहे वह भावना कितनी ही नगण्य हो)। यही कारण है कि वच्चे और युवाजन उन कलाकृतियो से इतना अधिक प्रभावित होते हैं, जो अननुभूतपूर्व भावनाओ को उनके पास पहले पहल प्रेषित करती हैं।

वह सवल प्रभाव लोगो पर उन भावनाओं द्वारा पड़ता है जो एकदम नवीन हैं और मनुष्य द्वारा पहले कभी अभिव्यक्त नही की गई हैं। और इसी स्रोत से वे भावनाएँ प्रवाहित होती हैं, जिनसे उच्च श्रेणी के लोगो की कला ने अपने को वंचित कर रक्खा है, क्योकि उसने भावनाओ का मूल्यांकन धार्मिक वोध की तुला में नही किया है वल्कि आनंद की उस मात्रा के अनुसार किया है जो कि वह(कला) देती है। आनंदोपभोग से अधिक पुरानी और घिसी पिटी कोई चीज नही है, और प्रत्येक युग की धार्मिक चेतना से निस्सृत भावनावों से अधिक ताजी (नई)

कोई चीज नही है। इसके सिवा और कुछ हो भी नही सकता था : मनुष्य के आनंदभोग पर उसकी प्रकृति द्वारा स्थिर की गई सीमाएँ हैं, परन्तु धार्मिक चेतना में आत्माभिव्यक्ति करनेवाली मानव-प्रगति की कोई सीमा नही है। मानवता द्वारा आगे वढाए गए प्रत्येक कदम पर—और धार्मिक वोध के अधिकाधिक प्रकाशित होते रहने के फलस्वरूप ऐसे कदम उठाए जाते हैं—मनुष्य नई और ताजी भावनाओं का अनुभव करते हैं। इसलिए केवल धार्मिक वोध के आधार पर (जो युग विशेष में लोगों द्वारा अर्जित जीवन-वोध का उच्चतम स्तर दिग्दर्शित करता है) मानव द्वारा अननुभूतपूर्व ताजे भाव उत्पन्न हो सकते हैं। प्राचीन ग्रीक लोगो के धार्मिक वोध से वस्तुत: नई, महत्त्वपूर्ण और अनंतरूप से विभिन्न भावनाएँ उत्पन्न हुई जिन्हें होमर और अन्य दुःखात्मक कृतियों के लेखको ने अभिव्यक्त किया है। यही वात यहूदियो में भी थी, जिन्होंने एक ईश्वर का धार्मिक वोध प्राप्त किया था; उस वोध से वे सारे नये और महत्त्वपूर्ण भाव उत्पन्न हुए जिन्हें मसीहा लोगो ने अभिव्यक्त किया। मध्ययुगीन कवियों के विषय में भी यही वात है, जो स्वर्गिक वंश परंपरा में विश्वास करने के साथ ही कैथलिक-संघ में भी विश्वास करते थे; और यही वात आज के मनुष्य के लिए भी सच है, जिसने सच्चे ईसाई-धर्म के धार्मिक वोध को अर्थात् मानवी भ्रातृत्व को समझ लिया है। धार्मिक वोध से उत्पन्न होनेवाली नई भावनाओं की अनेकता अनत है, और सव भावनाएँ नई हैं; क्योकि धार्मिक वोध और कुछ नही है केवल अस्तित्व में आनेवाली वात का अर्थात् अपने इर्द-गिर्द के संसार से मनुष्य के नये संवंध का प्रथम संकेत है। परन्तु आनंदभोग की कामना से निःसृत भावनाएँ, ठीक इसके विपरीत, न केवल सीमित हैं वल्कि वहुत समय पहले अनुभूत और अभिव्यक्त की जा चुकी हैं। इसलिए यूरोप के उच्च वर्गो की विश्वासहीनता के कारण उनके पास ऐसी कला वच रही है जिसकी विषय-वस्तु अधम कोटि की है।

उच्चवर्गीय कला की विषय-दरिद्रता इस तथ्य से और भी वढ़ गई कि अधार्मिक होने के कारण वह लोकप्रिय भी न रह सकी, इस कारण इसके द्वारा प्रेषित भावनाओ का विस्तार कम हो गया, क्योकि श्रम करनेवालों की स्वाभाविक भावनाओ के विस्तार की अपेक्षा जीवन-निर्वाह के लिए अपेक्षित श्रम के अनुभव से रहित, शक्तिशाली और संपन्न धनिकों द्वारा अनुभूत भावनाओं की परिधि कहीं अधिक सीमित, नगण्य और दरिद्र ह।

हमारी श्रणी के लोग, सौंदर्य-शास्त्रीगण, समान्यतः ठीक इसके विपरीत सोचते और बोलते हैं। मुझे स्मरण है कि किस प्रकार लेखक गोचारेव ने, जो कि बहुत चतुर, शिक्षित, पक्के नगरवासी और एक सौदर्यशास्त्री थे, मुझसे कहा था कि तुर्गनेव की 'शिलाड़ी की दैनंदिनी' के बाद कृषक जीवन में कुछ नहीं बचा जिस पर कुछ लिखा जा सके। सब कुछ प्रयुक्त हो गया। श्रमिक लोगों की जिन्दगी उन्हें इतनी सरल मालूम पड़ती थी कि तुर्गनेव की कृषक-कथाओ ने समस्त वर्ण्य को प्रयुक्त कर लिया था। हमारे धनिको का जीवन, उनके प्रेम-प्रसंग और अपने प्रति असंतोप, उन्हें अनंत विषय-वस्तु से भरा हुआ मालूम पड़ा। एक नायक ने अपनी प्रेमिका की हथेली चूमी, दूसरे ने उसकी कुहनी और तीसरे ने और कुछ। एक आदमी अकर्मण्यता के कारण असंतुष्ट है, और दूसरा इसलिए क्योंकि लोग उससे प्रेम नही करते। और गोंचारेव ने समझा कि इस क्षेत्र में विविधता का अंत नही है। और यह राय—कि मिहनत करनेवालो की जिन्दगी विषय की दृष्टि से दरिद्र है और हमारी जिन्दगी, काहिलों की जिन्दगी, रोचकता से भरी है—हमारे समाज में बहुत से लोगो की है। श्रम करनेवाले व्यक्ति का जीवन, जिसमें श्रम के विविध रूप अनत है और समुद्र तथा पृथ्वी के नीचे के श्रम से संबंधित खतरे हैं : उसके प्रवास, अपने मालिको से, निरीक्षको से, और साथियों से और अन्य धर्मो तथा जातियो के लोगों से उसकी बातचीत; प्रकृति और वन्य पशुओं से उसके सघर्ष, पालतू जानवरो से उसका संबंध, जंगल में, पठार पर, खेत में, बाग में, कुंज में उसका काम : अपनी स्त्री और संतान से उसकी बातचीत, न केवल अपने प्रीतिपात्रो के रूप में अपितु श्रम में सहयोगियो और सहकर्मियो के रूप में, और आवश्यक होने पर उसकी जगह काम करनेवालो के रूप में भी : सभी आर्थिक प्रश्नो में उसकी चिंता, प्रदर्शन या विवाद के विषय के के रूप में नही बल्कि अपने और परिवार के लिए जीवन की समस्याओ के रूप में : आत्मदमन और परसेवा में उसका गर्व, उसके मनोविनोद के आनद : और इन तथ्यो के संबंध में धार्मिक प्रतिक्रिया का इन सब कार्यों में व्याप्त होना : इन हितो से और ऐसे धार्मिक बोध से रहित होने के कारण हम लोगों को यह सब अपने जीवन की नगण्य चिंताओं और तुच्छ आनन्दो की अपेक्षा उबानेवाला लगता है—हमाराजीवन, श्रम या उत्पादन का जीवन नही है; बल्कि जो हमारे लिए दूसरो ने उत्पादन किया है, उसके भोग और विनाश का जीवन है। हम समझते हैं कि हमारे युग एवं वर्ग के लोगो द्वारा अनुभूत भावनाएँ बड़ी महत्त्वपूर्ण हैं और

बहुरंगी हैं; पर वास्तव में हमारे वर्ग के लोगों की प्रायः सभी भावनाएँ तीन बहुत नगण्य और साधारण भावनाओं में समाहित हैं—गर्व की भावना, कामेच्छा की भावना और जीवन की थकान की भावना—ये तीन भावनाएँ और इनकी प्रशाखाएँ उच्चवर्गीय कला की एकमात्र विषय-वस्तु है।

पहले, अभिजात वर्गों की ऐकांतिक कला के सार्वभौम कला से पृथक्करण के प्रारंभ में, इसकी प्रमुख विषय-वस्तु गर्व की भावना थी। पुनरुत्थान के समय में और उसके बाद ऐसी ही स्थिति थी, जब कि सबल—पोप, राजे, और सामंत—की प्रशंसा कलाकृतियों का प्रमुख विषय था। उनके सम्मान में संबोधन-गीत और लोकगीत लिखे जाते थे, एकाकी गीतों और भजनों में उनकी स्तुति की जाती थी, उनके चित्र बनाए जाते थे, उनकी मूर्तियाँ बनाई जाती थीं तथा अनेक प्रकार से उनकी चापलूसी की जाती थी।

द्वितीय, कामेच्छा का तत्त्व, कला में अधिकाधिक प्रविष्ट होने लगा; और—कुछ ही अपवादों को छोड़कर, और उपन्यासों-नाटकों में प्रायः बिना अपवाद के—अब यह धनिक-वर्ग की प्रत्येक कला-सृष्टि का अनिवार्य अंग बना गया है।

धनिकों की कला द्वारा प्रेषित तीसरी भावना—जीवन से असंतोष—आधुनिक कला में और भी बाद में दिखाई पड़ी। यह भावना, जो इस १९वीं शती के आरंभ में केवल असाधारण लोगों द्वारा व्यक्त की गई थी: बायरन, लियोपार्डी और बाद में हाइन द्वारा, कालांतर में व्यापक हो गई और अति सामान्य और सारहीन लोगों द्वारा व्यक्त की गई। फ्रांसीसी आलोचक डौमिक ने बहुत औचित्य के साथ नये लेखकों की कृतियों के विषय में लिखा[1]: 'जीवन की थकान, वर्तमान युग के लिए अनादर, कला की मिथ्या प्रतीति के द्वारा देखे गए एक अन्य युग के लिए उत्कण्ठा, विरोधों के लिए रुचि, आश्चर्यजनक होने की अभिलाषा, सरलता के प्रति एक भावनात्मक लालसा, अद्भुत का बालोचित पूजन, दिवा स्वप्न की ओर रुग्ण प्रवृत्ति, स्नायुओं की चकनाचूर दशा—और सबके ऊपर इन्द्रिय-सुख की उत्तेजनापूर्ण माँग।'' और, वास्तव में, इन तीन भावनाओं में से इंद्रियतोष निम्नतम है (जो न केवल मानव सुलभ है वरन् पशु सुलभ भी) जो हाल की कलाकृतियों का प्रमुख विषय है।

---

१. "नवयुवक" रेने डौमिक।

बोकेशियो से लेकर मार्सल प्रेवोस्ट तक; उपन्यास, कविताएँ, और गीत, काममूलक प्रेम की भावना को विभिन्न रूपों में प्रेषित करते हैं। व्यभिचार सब उपन्यासो का न केवल प्रिय बल्कि प्रायः एकमात्र विषय है। वह नाटक नाटक नहीं जिसमें किसी बहाने से नग्न वक्षस्थल और अनावृत अंगोवाली औरतें न दिखाई पड़ें। गीत और प्रेमकथाएँ—ये सब विभिन्न मात्राओं में आदर्शाच्छादित वासना की अभिव्यक्ति हैं।

फ्रेंच कलाकारों के अधिकांश चित्र अनेक रूपों में नारी-नग्नता प्रदर्शित करते हैं। नये फ्रेंच-साहित्य में मुश्किल से ही कोई ऐसा पृष्ठ या गीत मिलेगा जिसमें नग्नता का वर्णन न हो; और जिसमें, व्यर्थ या सप्रयोजन, उनके प्रिय विचार और शब्द 'नग्न' की आवृत्ति दो बार न हुई हो। एक लेखक हैं 'रेमी दे गौरमेंट,' जिनकी रचनाएं छपती हैं और जो प्रतिभावान समझे जाते हैं। नये लेखकों के संबंध में जानने के लिए मैंने उनका उपन्यास 'डायमीड का घोड़ा' पढ़ा। विभिन्न औरतों से कुछ भद्रजनों के काममूलक संबंधों का यह क्रमबद्ध और सविवरण आकलन है। प्रत्येक पेज में वासनोद्दीपक वर्णन है। यही दशा पीयरे ल्वांय की सफल पुस्तक 'एफ्रोडाइट' की भी है; थोड़े ही समय पहले संयोग से एक किताब, हुईस्मैन की 'निश्चित' मेरे हाथ लगी, उसकी भी यही दशा है, और कुछ ही अपवादों को छोड़कर यह दशा सभी फ्रेंच उपन्यासों की है। ये सब प्रेमसंबंधी उन्माद से पीड़ित लोगों की रचनाएँ हैं। और प्रत्यक्ष ही इन लोगों का विश्वास है कि चूंकि उनका पूरा जीवन, उनकी रुग्णावस्था के फलस्वरूप, कई तरह की काममूलक वीभत्सताओं को प्रसारित करने में निरत है, अतएव समस्त संसार का जीवन उसी कार्य में निरत है। और प्रेमसंबंधी उन्माद से पीड़ित इन लोगों का अनुकरण यूरोप और अमेरिका के समस्त कला-संसार द्वारा किया जा रहा है।

इस प्रकार, धनिक वर्गों की विश्वासहीनता और असाधारण प्रकार की जिन्दगी के फलस्वरूप, इन वर्गों की कला विषय-वस्तु की दृष्टि से दरिद्र हो गई और गर्व की, जीवन से असंतोष की, और सर्वोपरि, कामेच्छा की गर्हित भावनाओं को प्रेषित करने लगी।

दसवाँ परिच्छेद

[सुबोधता की हानि—पतनशील कला—नवीन फ्रांसीसी कला—क्या हमें इसे बुरा कहने का हक है ?—उच्चतम कला सदैव साधारण जन के लिए बोधगम्य रही है—जो साधारण जन को प्रभावित करने में विफल है वह कला नहीं है ।]

अभिजातवर्ग की विश्वासहीनता के कारण उनकी कला विषय की दृष्टि से दरिद्र हो गई । पर इसके साथ ही, निरंतर अधिकाधिक ऐकांतिक होती जाने के कारण वह निरंतर अधिकाधिक जटिल, कृत्रिम और अस्पष्ट भी होती गई ।

जब कोई सार्वभौम कलाकार (जिस प्रकार के कुछ ग्रीक कलाकार या यहूदी मसीहा लोग थे) अपनी कृति निर्मित करता था तब उसे जो बात कहनी होती थी उसे स्वभावतः ऐसे ढ़ग से कहता कि वह सबके लिए बोधगम्य होती थी । परन्तु जब कोई कलाकार आसाधारण स्थितिवाले एक छोटे से वर्ग के लोगों के लिए या केवल एक ही व्यक्ति और उसके सभासदों के लिए—पोप, पादरी, राजों, सामंतों, रानियो या राजा की किसी रखैल के लिए—कला निर्माण करता था, तब वह स्वभावतः इन लोगो को प्रभावित करने का लक्ष्य रखता था । ये लोग उसके सुपरिचित होते थे और ऐसी असाधारण स्थितियो में रहते थे जो उसे ज्ञात थी । और यह अपेक्षाकृत एक सरल काम था, और कलाकार अनजान में भी ऐसे सकेतों द्वारा आत्माभिव्यक्ति करता था, जो दीक्षित-जन को ही बोधगम्य होते थे, और शेष सबके लिए अस्पष्ट । पहली बात यह है कि इस प्रकार अधिक कहा जा सकता था; दूसरी बात यह है कि दीक्षित-जन के लिए अभिव्यक्ति की उस शैली की दुर्बोधता में एक प्रकार का आनंद मिलता था । यह शैली, जिसके दर्शन हमें अलंकृत शैली और पौराणिक तथा ऐतिहासिक संकेतों में मिलते हे, अधिकाधिक व्यवहृत होने लगी और एक दिन ह्रासोन्मुखों की तथा-कथित कला में अपनी सर्वश्रष्ठ चोटियो तक पहुँच गई । अंततोगत्वा इसका स्वरूप यह हो गया कि : न केवल धुंधलापन, रहस्यात्मकता, जटिलता और ऐकां-तिकता (जनता को अलग रखना) काव्य-कला की एक शर्त और उसके एक

लक्षण की कोटि में उठ जाते हैं, वरन् त्रुटि, अनिश्चयात्मकता और वक्तृत्व-शक्ति का अभाव भी आदृत होने लगते हैं।

थियोफाइल गाटियर ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'पाप प्रसून' की भूमिका में कहा है कि बाडेलेयर ने यथाशक्ति काव्य से वक्तृत्व, लालसा, और कट्टरता-पूर्वक अनुकृत किए गए सत्य का बहिष्कार कर दिया।

और बाडेलेयर ने न केवल यह किया, बल्कि अपने मत को अपने गीतो मे, और अधिक आश्चर्यजनक ढंग से अपनी पुस्तक 'गद्य में लघु गीत' के गद्य में बनाए रक्खा, जिसके अर्थों का अनुमान पहेली की तरह लगाया जाता है और जो अधिकतर अज्ञात रह जाते है।

कवि बर्लेन (जो बाडेलेयर के बाद हुए और महान् भी माने जाते थे) ने तो एक 'काव्यकला' भी लिखी, जिसमें वे इस शैली की रचना करने की सलाह देते हैं :—

सब वस्तुओ से पहले सगीत !
सनकी लोग अब तक पसद करते हैं
हवाई, धुँधली, कुछ भी वजन जिसमें न हो,
हल करने योग्य। फिर भी त्रुटि नही करते।
शब्द-चयन, में; तथापि हल्के ढग से चयन करते है,
तिरस्कारपूर्ण मस्तिष्क से :
अस्पष्ट गीत सर्वाधिक प्रिय है—जहाँ समन्वित है
ज्ञात और अज्ञात !

× × ×

सदैव सगीत, अब और सर्वदा !
तुम्हारा गीत ऐसी चीज हो जो उड़े
उस आत्मा से जो बच कर चली गई है,
अन्य प्रीतियो और आकाश की सन्निधि में।
अन्य प्रदेशो और प्रीतियो के पास
आकृष्ट करनेवाले सुखो के पीछे,
टकसाल और पुदीना और प्रातःकालीन स्वच्छता...
शेष सब कुछ मात्र साहित्य है।

इन दो के बाद मालार्मे हुए, जो युवक कवियों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण समझे जाते हैं, और स्पष्ट कहते हैं कि काव्य का आकर्षण इसमें है कि हमें उसके अर्थ का अनुमान लगाना पड़े—कि काव्य में हमेशा एक पहेली होनी चाहिए:—

"मैं समझता हूँ कि उसमें संकेतों के सिवा और कुछ न होना चाहिये। वस्तुओं का चिन्तन, उसके द्वारा उत्पन्न किए गए दिवास्वप्नों की उड़ती मूर्ति, गीत का निर्माण करते हैं। पारनेशियन लोग हर वस्तु को पूर्णतया कह देते हैं, और दिखा देते हैं, और इस प्रकार उनमें रहस्य का अभाव रहता है; वे मस्तिष्क को उस रसात्मक आनंद से वंचित कर देते हैं, जो अपनी रचित वस्तु की कल्पना से उसे प्राप्त होता है। किसी वस्तु का नाम बता देना उस कविता के तीन-चौथाई आनंद को निकाल लेना है, जो आनंद थोड़ा-थोड़ा अनुमान लगाने से मिलता है: उसका सङ्केत देना, यही स्वप्न है। इस रहस्य के कौशलपूर्वक प्रयोग से प्रतीक बनता है: आत्मा की एक दशा दिखाने के लिए धीरे-धीरे एक वस्तु उत्पन्न करना; या इसके विपरीत, एक वस्तु चुनना और उसमें से रहस्योद्घाटन की एक शृंखला द्वारा आत्मा की एक दशा को अलग करना।

...यदि सामान्य बुद्धि और अपर्याप्त साहित्यिक तैयारीवाला कोई आदमी संयोग से इस तरह बनाई गई कोई पुस्तक खोलता है और उससे आनंदित होने का बहाना करता है तो अवश्य कोई भ्रम है—वस्तुएँ अपने उचित स्थानों में रक्खी जानी चाहिए। काव्य में सदैव एक गुत्थी होनी चाहिए, और साहित्य का लक्ष्य है वस्तुओं की उद्भावना करना। इसका और कोई लक्ष्य नहीं।" (जूल्स हूरेट कृत "साहित्यिक विकास पर जिज्ञासा" पृ० ६०-६१)।

इस प्रकार जटिलता नवीन कवियों म सिद्धान्त के रूप में प्रतिष्ठित है। जैसा कि फ्रेंच आलोचक डौमिक ने, जिन्होंने अभी तक यह सिद्धान्त स्वीकार नहीं किया है, एकदम ठीक कहा है:—'अब समय आ गया है कि जटिलता के प्रसिद्ध सिद्धांत से मुक्ति पा ली जाय, जिसे नये निकाय ने वास्तव में सिद्धांत की ऊँचाई तक उठा दिया है।' (रेने डौमिक कृत "यौवन: विवेचन और चित्रण।") परन्तु न केवल फ्रेंच लेखक ऐसा समझते हैं, अन्य सब देशों के कवि भी इसी प्रकार सोचते तथा व्यवहार करते हैं: जर्मन, स्कैंडिनेवियन, इटैलियन, रूसी एवं अंग्रेज कवि। इसी प्रकार कला की सब शाखाओं में—चित्र, शिल्प और

संगीत कला में—नव युग के कलाकार करते हैं। नीत्शे और वैगनर पर विश्वास करते हुए नवयुग के कलाकार यह परिणाम निकालते हैं कि असंस्कृत भीड़ के लिए बोधगम्य होना उनके लिए आवश्यक नही है; एक अंग्रेज सौंदर्यशास्त्री के शब्दो में 'सर्वोत्तम सस्कृत' लोगों में काव्यात्मक भाव मात्र उत्पन्न कर देना उनके लिए पर्याप्त है।

जो मै कह रहा हूँ वह मात्र एक दावा न प्रतीत हो, इसलिए कम से कम उन फ्रेंच कवियो से कुछ उदाहरण मैं उद्धृत करूंगा, जिन्होने इस आदोलन का नेतृत्व किया है। इन कवियो का नाम असख्य है। मैंने फ्रेंच लेखकों को लिया है क्योकि उन्होंने और लोगो से कहीं अधिक निश्चयात्मक रूप में कला की नयी दिशा का सकेत दिया है और अधिकाश यूरोपीय लेखको द्वारा उनका अनुकरण किया जाता है।

बाडेलेयर और वर्लेन के अलावा, जिनके नाम पहले ही से प्रख्यात माने जाते हैं, यहा कुछ अन्य लोगो के नाम भी देता हूँ : जीन मोरेज, चार्ल्स मारिस, हेनरी दरेजनियर, चार्ल्स विग्नियर, एड्रियन रेमैकल, रेने घिल, मारिस मेटेरलिंक, जी० एल्बर्ट आरियर, रेमी द गौर्मेंट, सेंट-पोल-रो-ले-मैग्निफिक, ज्यार्जेज रोडेन-बाच, ले काम्टे राबर्ट द मांटेस्क्यू-फेजेंसैक। ये प्रतीकवादी और ह्रासोन्मुखी हैं। इनके बाद हैं 'विभूतियाँ' : जोसेफिन पेलाडन, पाल ऐडम, जूल्स ब्वाय, एम० पापस, इत्यादि।

इनके अलावा और भी १४१ लोग हैं जिनका नामोल्लेख डौमिक ने पूर्वोक्त पुस्तक में किया है।

जो लोग सर्वश्रेष्ठ समझे जाते हैं उनकी कृतियो से कुछ उदाहरण यहाँ प्रस्तुत किए जा रहे हैं। हम सर्वप्रख्यात व्यक्ति बाडलेयर से प्रारंभ करेंगे, जिन्हें स्मारक के योग्य एवं महान कलाकार माना जाता है। उनकी प्रसिद्ध पुस्तक 'पाप प्रसून' से यह कविता उद्धृत की जा रही है :—

संख्या २४

मैं तुम्हारी उतनी ही पूजा करता हूँ जितनी रात्रि की गुफाओ की
हे दुःख की नाव, महान मितभाषी
तुम्हारी उड़ान के कारण मैं तुम्हें और भी अधिक प्रेम करता हूँ।
मेरी रात्रि को सुन्दर बनानेवाले ऐसा मालूम होता है कि तुम
उस दूरी को बनाते जाते हो—हाँ! व्यंगपूर्वक बढ़ाते हो।—

जो मेरी बाँहों से विशाल नीलिमा को अलग रखती है ।
मैं आक्रमण करने के लिए बढ़ता हूँ, मैं प्रहार के लिए चढ़ता हूँ,
गुफा में रक्खी लाश छोटे-छोटे कीड़ों की तरह;
तुम्हारी उदासीनता, हे निर्दय, मानी पशु !
फिर-भी तुम्हारा सौंदर्य बढ़ा देती है, जिसपर मेरी आंखें मुग्ध होती हैं ।

और उसी लेखक की यह दूसरी कविता है :—

संख्या ३६

द्वन्द्व-युद्ध

दो योद्धा दौड़े आ रहे हैं, युद्धारंभ करने के लिए,
आलोक और रक्त वे वायु पर विकीर्ण कर रहे हैं;
ये खेल, और शस्त्रों कि यह खनखनाहट, रोर है
उस यौवन का जो प्रेम की उत्तेजना का शिकार है ।
तलवारें टूट जाती है ! और इसी तरह हमारा यौवन भी,
परन्तु प्रियतम, कटार और तलवार से प्रतिशोध ले लिया जाता है,
लौह नख और वज्रदन्त द्वारा ।
ओह ! प्रेम द्वारा वार्धक्य और नासूर प्राप्त हृदयों का क्रोध !
खाईं में, जहाँ बिल्लियों, तेंदुओं की मांद है,
क्रुद्ध आलिंगन में हमारे वीर जा पहुँचे हैं;
कुछ ही क्षण पहले नंगे गोखरू पर उनकी त्वचा खिल रही है ।
वह गुफा मित्रों से बसा हुआ नरक है
तब हम लोग मिल जाएँ, ओ निर्दय औरत,
घृणा को अमर करने के लिए जिसे कोई भी नहीं दबा सकता !

सच तो यह है कि संग्रह में ऐसे गीत हैं जो इनसे अधिक दुर्बोध हैं, परन्तु एक भी ऐसा गीत नहीं है जो सरल हो और निष्प्रयास समझा जा सके—जिस प्रयास का कभी पुरस्कार नहीं मिला, क्योंकि जिन भावनाओं का प्रेषण कवि करता है वे बुरी और निम्नतम हैं । और ये भावनाएँ हमेशा, सप्रयोजन सनकीपन के साथ और अस्पष्ट रूप में उनके द्वारा व्यक्त की गई हैं । यह पूर्वायोजित दुरूहता उनके गद्य में विशेष रूप से दृष्टव्य है, जहाँ, यदि लेखक चाहता तो सरल भाषा में बोल सकता था ।

उदाहरणार्थ, उनकी पुस्तक "छोटी कविताएँ—गद्य में" से यह प्रथम कविता :—

अपरिचित

तुम सबसे ज्यादा प्रेम किससे करते हो? अनबूझ व्यक्ति, बताओ—अपने पिता से, अपनी माता से, अपनी बहन से या अपने भाई से?

'मेरे न तो पिता है, न माता, न बहन और न भाई।'

'अपने मित्रो से?'

'इस बार आप ऐसा शब्द प्रयुक्त कर रहे है, जिसका अर्थ अब-तक मुझे अज्ञात है।'

'अपने देश से?'

'मै नही जानता कि किस अक्षांश मे वह स्थित है।'

'सौन्दर्य से?'

'मै उस अमर देवी से प्रसन्नतापूर्वक प्रेम करूँगा।'

'स्वर्ण से?'

'मुझे उससे उतनी ही घृणा है जितनी तुम्हें ईश्वर से।'

'तब किससे तुम्हारा प्रेम है, असाधारण अजनबी!'

'मै बादलो से प्रेम करता हूँ.. ...उन बादलो से जो चलते है......उस ओर......शानदार बादल।'

'शोरबा और बादल' नामक रचना का अभिप्राय सभवत: यह व्यक्त करना है कि कवि उसके लिए भी अबोधगम्य है जिससे वह प्रेम करता है। वह रचना निम्नांकित है:—

'मेरी नन्ही अबोध प्रेमिका मुझे भोजन दे रही थी, और मै भोजन-कक्ष की खुली खिड़कियो से उन सचल भवनो को देख रहा था जिन्हें ईश्वर भाप से बनाता है, स्पर्शातीत, आश्चर्यजनक भवनो को। और मैन अपनी विचारणा में अपने से कहा कि यह सारा दृष्टि-भ्रम करीब-करीब उतना ही सुन्दर है जितनी मेरी सुन्दर शैतान अबोध, नन्ही प्रेमिका की हरी आँखें।

सहसा मेरी पीठ पर जोर का घूँसा पडा और मैंने एक कड़ी, सुन्दर आवाज, उन्मत्त आवाज सुनी जो ब्राडी के कारण रूखी थी। यह आवाज मेरी प्रिय, नन्ही प्रीतिपात्री की थी जो कह रही थी : 'क्या तुम अपना शोरबा जल्दी ही खाने जा रहे हो, तुम द---ब—बादलो के व्यापारी के?'

ये दोनों रचनाएं कितनी भी कृत्रिम हों, कुछ प्रयास द्वारा यह संभव है कि इनके अभिप्रेत अर्थ का अनुमान लग सके, परन्तु कुछ रचनाएँ एकदम अबोध हैं—कम से कम मेरे लिए। निम्नांकित एक ऐसी ही रचना है जिसे समझने में मैं एकदम असमर्थ था।

वीर लक्ष्यवेधक

जब गाड़ी जंगल से गुजर रही थी उसने यह कहते हुए कि 'मैं समय काटने के लिए कुछ गोलियाँ चलाना चाहता हूँ' गोली चलाने की एक दहलीज के समीप गाड़ी रोक देने की आज्ञा दी। इस राक्षस को मारना क्या हर व्यक्ति का सर्वथा वध और सर्वाधिक साधारण कार्य नहीं है? और उसने वीरतापूर्वक अपनी प्रिय, स्वादिष्ट और नीच पत्नी की ओर अपना हाथ बढ़ा दिया—यह वही रहस्यपूर्ण स्त्री थी जिसके कारण उसे इतना अधिक आनंद, इतना अधिक दर्द, और संभवतः अपनी प्रतिभा का एक बड़ा अंश प्राप्त हुआ था।

कई गोलियाँ निश्चित लक्ष्य से बहुत दूर लगी—एक ने तो छत को भेद दिया; और जब वह मनोहर नारी, अपने पति के भोंडेपन का उपहास करती हुई, अट्टहास कर उठी, वह उसकी ओर एकाएक उन्मुख हुआ और बोला, 'दाईं ओर गर्वीली मुद्रावाली उस गुडिया को देखो और हवा में उसकी नाक देखो; प्रिय देवदूत, मैं कल्पना करता हूँ कि वह तुम्ही हो!' और उसने अपनी आंखें बंद कर ली और घोड़ा (पिस्तौल का) खींचा। गुड़िया का सर सफाई से कट गया।

तब अपनी प्रिय, आनंदप्रद, नीच अनिवार्य, क्रूर सरस्वती, पत्नी की ओर झुककर, और उसका हाथ सादर चूमते हुए, उसने कहा, 'आह! मेरे प्रिय देवदूत, अपनी बुद्धि के लिए मैं तुम्हें कितना धन्यवाद दूँ!'

एक दूसरे प्रख्यात व्यक्तित्व, वर्लेन, की रचनाएँ कम कृत्रिम और अबोधगम्य नहीं है। उदाहरणार्थ "विस्मृत हवाएँ" नामक खण्ड से उनकी यह प्रथम कविता:

संख्या १

'मैदान में हवा
अपनी साँस स्थगित करती है।'—फ़ावार्ट

भाव—विह्वलता मुर्झा रही है
प्रेमात्मक थकान,
जंगलों के सारे कंपन
मंद वायु द्वारा आलिंगित हैं,
यह छोटी आवाज का सामूहिक गान है
भूरे पेड़ों की तरफ ।
ओह निर्बल और नवीन शिकायत !
चूं-चूं और भनभनाहट,
से मिलती-जुलती कोमल चिल्लाहट
घास की साँस से उत्पन्न .
ओह, कंकड़ियों का लुढकना
गुजरने वाले पानी के नीचे !

ओह, यह आत्मा जो कराह रही है
निद्रात्मक शिकायत में !
क्या यह हमारे भीतर विलाप कर रही है ?
मेरे और तुम्हारे भीतर ?
मन्द स्तुति-गीत उच्छ्वास लेता है
जब कि ओस कोमलतापूर्वक गिरती है ।

'भूरे पेड़ों की ओर' और 'घास की सांस से उत्पन्न कोमल चिल्लाहट' का और इस समस्त शब्द-समूह का क्या अर्थ है, यह मैं अबतक थोड़ा भी नहीं समझ सका हूँ ।

और 'हवाओं' से यह दूसरी कविता:—

संख्या ८

इस भूमि की
अनंत उदासी में,
अनिश्चित वर्फ
बालू की तरह चमक रही है ।
ताम्रवर्ण आकाश में
किसी तरह की चमक नहीं

देखो चाँद कभी जीता
और कभी मरता है।
समीपवर्ती वनो के
कुहरा भरे
भूरें ओक के वृक्ष तैरते है—
बादल जैसे वे मालूम पड़ते हैं—
ओ भूखे और दुवले भेड़ियो,
और क्षुधार्त कौवो
जव तीखी हवाएँ चलती है
तव तुम्हारी क्या हालत होती है !
इस भूमि की
अनंत उदासी सें,
अनिश्चित वर्फ
वालू की तरह चमक रही है।

ताम्रवर्ण आकाश में चाँद कैसे मरता-जीता दिखाई पड़ता है ? और वर्फ वालू की तरह कैसे चमक सकती है ? सारी चीज न केवल अवोधगम्य है, वरन् प्रभाव उत्पन्न करने के वहाने से यह एक गलत उपमाओं और शब्दों की शृंखला उत्पन्न करती है।

इन कृत्रिम और दुरूह कविताओं के सिवा कुछ अन्य कविताएँ है, जो वोधगम्य ह परन्तु रूप और वस्तु दोनों में एक दम बुरी होने के कारण बोधगम्य हैं। 'वुद्धिमत्ता' शीर्षक सभी कविताएँ ऐसी हैं। इन कविताओं में अतिसाधारण देश-भक्तिपरक और रोमन कैथलिक भावनाओं की दरिद्र अभिव्यक्ति का स्थान प्रमुख है। उदाहरणार्थ, ऐसे गीत भी मिलते हैं:—

में अव और नही सोचना चाहता, सिवा अपनी माता मेरी के विषय में
जो वुद्धि की प्रतिष्ठान है और क्षमा की स्रोत है
और फ्रांस की माता भी, जिनसे हम
दृढ़तापूवक अपने देश के सम्मान की आशा रखते हैं।

अन्य कवियों के उद्धरण देने से पहले मुझे इन दो गीतकारों—वाडेलेयर, और वर्लेन—की आश्चर्यजनक प्रसिद्धि देखने के लिए रुक जाना चाहिए, जो अब

बड़े कवियों के रूप में स्वीकृत हो रहे हैं। जिन फ्रांसीसियों में चेनियर, मूसेट, लामार्टिन, और सर्वोपरि ह्यूगो हुए,—और जिनमें अभी कुछ दिन पहले तथाकथित पारनेशियन लोग फले-फूले अर्थात् : लेकान्टे द लिस्ले, सली-प्रड-होम आदि,—वे कैसे इन दोनों गीतकारों को इतना महत्त्व दे सके, यह मेरी समझ में नही आता, क्योकि उनके द्वारा रचित कला का रूप कौशलहीन था और विपय-वस्तु अत्यधिक गर्हित और सामान्य। उनमें से वाडेलेयर का जीवन-दर्शन था निंद्य अहंकार को सिद्धांत की कोटि में प्रतिष्ठित करना और सदाचार के स्थान में सौंदर्य, विशेषकर कृत्रिम सौंदर्य की दुरूह भावना को स्थापित करना। वाडेलयर को कुछ वस्तुएँ बहुत पसंद थी—नारी का मखमंडल, प्राकृतिक वर्ण में नही, बल्कि चित्रित, और असली वृक्ष और असली पानी नही वल्कि धातु के वृक्ष और पानी की नाटकीय अनुकृति।

८ वर्लेन का जीवन-सिद्धांत था दुर्वल विलासिता। यह उसकी नैतिक नपुंसकता का प्रमाण था और इस नपुंसकता के निराकरण स्वरूप मलिनतम रोमन कैथलिक मूर्ति पूजा में उसे विश्वास था। इसके अलावा दोनो में सरलता, ईमानदारी, सादगी का पूर्णतः अभाव था और दोनो कृत्रिमता, अस्वाभाविक मौलिकता और आत्मविश्वास से लवालव भरे थे। फलतः उनकी कम से कम बुरी रचनाओ में हमें श्री वाडलेयर या श्री वर्लेन के विषय में अधिक ज्ञान प्राप्त होता है अपेक्षाकृत उनके वर्ण्य विषय के। परतु इन दो गीतकारो का एक निकाय है और ये अपने सैकड़ो अनुयायियो के नेता हैं।

इस तथ्य का एक ही समाधान है : वह यह कि उस समाज की कला जिस में ये रहते थे जीवन का कोई महत्वपूर्ण, गंभीर विषय नही है, वरन् मात्र विनोद; और सभी विनोद आवृत्ति द्वारा ऊव पैदा करते हैं। और थकान उत्पन्न करने वाले विनोद को सह्य वनाने के लिए यह आवश्यक है कि उसे ताजा वनाने के लिए कुछ साधन खोजे जायें। जव हम ताश के खेल में एक खेल से ऊव जाते हैं तव दूसरा, उससे ऊवते हैं तव तीसरा, उससे ऊवने पर चौथा खेल प्रारंभ करते हैं, कोई न कोई नवीनता आविष्कृत करते हैं। विषय-वस्तु वही रहती है, केवल रूप वदल जाता है। यही वात इस तरह की कला पर लागू है। उच्च-वर्गीय कला की विषय-वस्तु के निरंतर सीमित होती जाने के कारण अव स्थिति यह है कि इन ऐकांतिक वर्गों के कलाकारों को यह प्रतीत होता है कि हर चीज पहले कही जा चुकी है, और कहने के लिए किसी नई वात की खोज असंभव

है। और इस लिए इस कला को ताजा बनाने के लिए वे नए रूपों की खोज करते हैं।

बाडेलेयर और वर्लेन ऐसा रूप आविष्कृत करते हैं और अब तक अप्रयुक्त कामोत्तेजक विवरणों से इसे चमकाते हैं, और—उच्चवर्गीय जनता और आलोचक महान् लेखकों के रूप में उनका स्वागत करते हैं।

बाडेलेयर और वर्लन की ही नहीं, वरन् सभी ह्रासोन्मुखों की सफलता का एकमात्र यही कारण है।

उदाहरणार्थ, मालार्मे और मैटरलिंक द्वारा रचित कुछ कविताएँ ऐसी हैं, जिनका कुछ भी अर्थ नहीं, फिर भी, इसके बावजूद, या शायद इसी कारण, वे हजारों की सख्या में छपती हैं, विविध प्रकाशनों में ही नहीं बल्कि युवक कवियों की सर्वोत्तम रचनाओ के संग्रहो मे भी।

उदाहरणार्थ, मालार्मे का एक सानेट है 'प्रकृतिचेतना' (१८९५, सं० १) जो इतना अधिक अबोधगम्य है कि उसका अनुवाद करना असंभव है।

यह कविता अबोध्यता में अपवाद स्वरूप नही है। मैंने मालार्मे की अन्य अनेक कविताएँ पढ़ी हैं और उनमें कुछ भी अर्थ नहीं था। मैं परिशिष्ट सं० १ में उनके गद्य का एक उदाहरण दे रहा हूँ। 'दिशान्तर' नाम से उनके गद्य का एक पूरा ग्रंथ है। इसमें से कुछ भी समझना असंभव है। और ठीक यही लेखक का उद्देश्य भी था।

और आज के दूसरे प्रख्यात लेखक मैटरलिंक की एक कविता प्रस्तुत है—

जब वह चला गया,
(तब मैंने द्वार को सुना)
जब वह चला गया,
उसके (स्त्री के) ओठों पर मुस्कान थी...

वह उसके पास वापस आया
(तब मैंने दीपक को सुना)
वह उसके पास वापस आया,
वहाँ तो और कोई था...

जिससे मैं मिला वह मौत थी
(और मैंने उसकी आत्मा को सुना)

जिससे मैं मिला वह मौत थी
उसकी (प्रेमिका की) प्रतीक्षा वह अब तक कर रहा है

कोई यह कहने आया,
(बच्चे, मैं भयभीत हूँ)
कोई यह कहने आया
कि वह चला जायगा
अपने जलते दीपक के साथ,
(बच्चे, मैं भयभीत हूँ)
अपने जलते दीप के साथ
मैं भयातुर समीप गया...

एक दरवाजे तक मैं आया,
(बच्चे, मैं भयभीत हूँ)
एक दरवाजे तक मैं आया,
एक प्रकंप ने लौ को कँपा दिया...

द्वितीय दरवाजे पर
(बच्चे, मैं भयभीत हूँ)
द्वितीय दरवाजे पर
लौ ने शब्दो की वर्षा की...

मैं तीसरे पर आया,
(बच्चे, मैं भयभीत हूँ)
मैं तीसरे पर आया,
तब छोटी लौ मर गई...

यदि वह एक दिन लौटे
और तुम्हें मृत पड़ा देखे ?
कहना मैं उसे चाहती थी
जब मैं अपनी मृत्यु शैया पर थी...

क्या उसे और प्रश्न करने चाहिएँ
बिना मुझे जाने,
बहन की तरह बोलो;
उसे कष्ट होता होगा...

यदि वह तुम्हें पूछता है,
बताओ तब क्या जवाब दूँ
उसे मेरी सोने की अँगूठी दो
और एक भी बात का उत्तर न दो...

यदि वह पूछे कि क्यों
दीवान खाली है ?
खुला हुआ दरवाजा दिखा दो
और बुझा हुआ दीप...

यदि वह मुझे पूछे
अंतिम घंटे के विषय में ?
कहना मैं इस भय से मुस्काई
कि कहीं वह रो न दे...

—'प्रकृति-चेतना', १८६५, सं० २

कौन बाहर गया ? कौन भीतर आया ? कौन बोल रहा है ! कौन मरा ? मैं पाठकों से प्रार्थना करता हूं कि परिशिष्ट सं० २ में दिए गए प्रसिद्ध और मान्य नौजवान कवियों के नमूने ध्यान से पढ़ने का कष्ट करें : रेगनियर, ग्रिफिन, वर्हायेरेन, मोरेस, और मांटेस्क्यू । कला की वर्तमान स्थिति के स्पष्ट बोध के लिए ऐसा करना महत्त्वपूर्ण है, और बहुतों की तरह यह सोचने के लिए नहीं कि ह्रासोन्मुखता एक आकस्मिक और अस्थायी चीज है। निम्नतम गीतो के चयन के आक्षेप से बचने के लिए मैंने प्रत्येक पुस्तक से वह कविता नकल की जो मुझे पृ० २८ पर मिली ।

इन कवियों को शेष सभी कृतियाँ इतनी ही अबोध्य है, या केवल बड़ी मुश्किल से समझी जा सकती हैं सो भी पूरी तरह नहीं । मेरे द्वारा उल्लिखित कवियों में से सैकड़ों की सब रचनाएँ एक ही तरह की हैं। और जर्मनों, स्वीडिश लोगों, नार्वेजियन, इटैलियन, और हम रूसियों में ऐसी ही कविताएँ छपती हैं। और ऐसी रचनाएँ छापी जाती हैं और पुस्तक रूप में तैयार की जाती हैं, यदि १० लाख प्रति नहीं तो एक लाख (इनमें से कुछ स्वतंत्र पुस्तकों की १०,००० प्रति तक बिक जाती है)। इन पुस्तकों की टाइप बिठाने, पेज बनाने, छपाई करने, बंधाई करने में लाखों कार्य-दिवस व्यय किए जाते हैं—मैं समझता हूँ बड़ी

मीनार वनाने में जितने दिन लगे, उससे हर्गिज कम नही। यही तक वात नही है। शेष सव कलाओं में भी यही स्थिति है : चित्रांकन, सगीत एव नाटक कला की इतना ही अवोधगम्य कृतियो के निर्माण पर लाखो का व्यय हो रहा है।

चित्रकला न केवल काव्यकला से इस विषय में पीछे नही है वरन् कही आगे है। एक कला नौसिखुए[1] की डायरी से यहाँ एक उद्धरण प्रस्तुत है, जो १८९४ में पेरिस प्रदर्शनियो को देखने के समय लिखी गई थी :—

'आज मैं तीन प्रदर्शनियो में थी : प्रतीकवादियो की, प्रभाववादियो की, और नव-प्रभाववादियो की। मैंने ध्यान और ईमान के साथ चित्रो को देखा, परन्तु फिर उसी मूर्च्छा और फल स्वरूप क्रोध का अनुभव हुआ। कैमिल पिसैंरो की प्रथम प्रदर्शनी, अपेक्षाकृत सर्वाधिक वोधगम्य थी यद्यपि चित्र रेखा निर्मित थे, उनमें कोई वस्तु न थी, और वर्ण योजना अत्यधिक असंभव थी, रेखांकन इतना अनिश्चित था कि कभी-कभी आप यह पता चलाने में असमर्थ होते कि किस तरफ एक हाथ या सिर घूमा हुआ है। विषय प्रायः रहता, 'प्रभाव'—'कामना का प्रभाव', 'शत्रु का प्रभाव', 'सूर्यास्त का प्रभाव'। कुछ चित्र आकृति युक्त थे पर विषय हीन थे।

'वर्ण योजना में चमकीला नीला या चमकीला हरा प्रमुख था और प्रत्येक चित्र का अपना विशेष रंग था, जिससे कि समूची तस्वीर छपछपाई गई मालूम पड़ती थी। उदाहरण के लिए 'हस की रक्षा में निरत एक लड़की' में विशेष रंग है मंद हरा, और इसके छीटे करीव हर जगह पड़े थे : मुख पर, वालो पर, हाथो पर और कपड़ों पर। उसी कक्ष में—ड्यूरैन्ड-रुयेल के—अन्य चित्र भी थे : पूविस द शैवानेस, मैनेट, मोनेट, रेन्वायर, सिस्ले के भी, जो सवके सव प्रभाववादी हैं। एक ने, जिसका नाम मैं नही पढ सकी—रेडोन की तरह कोई नाम था—नीले चेहरे का पार्श्व चित्रित किया था। पूरे चेहरे पर केवल यह नीला रग था, साथ राँगे के रंग की सफ़ेदी भी थी। पिसारो ने एक चित्र वाटर-कलर (तरल रगो) में विन्दुओं से वनाया था। अग्रभूमि में केवल विविधवर्ण विन्दुओ से चित्रित एक गाय है। चाहे कोई चित्र से कितनी भी दूर खड़ा हो, या समीप आए, सामान्य (व्यापक) रग का पता नही चलता। वहां से मैं प्रतीकवादियो के

---

१. ताल्स्ताय की ज्येष्ठ पुत्री तैतियाना, श्रीमती सुखोतिन; जो स्वयं प्रतिभावान् कला-विद्यार्थी थीं।—ऐ० मा०।

चित्र देखने गई। वगर किसी से अर्थ पूछे मैं बहुत देर तक उन चित्रों को देखती रही और अर्थ जानने का प्रयत्न करती रही; परन्तु वे सब मानवी बुद्धि के लिए अगम्य थे। सबसे पहले मेरा ध्यान बुरी तरह बने लकड़ी में कढ़े एक चित्र ने आकर्षित किया, जिसमें एक नग्न औरत चित्रित थी जो अपने दोनो हाथों से अपने स्तनों से खून की धाराएँ निचोड़ रही थी। और बकाइन के रग का होते हुए खून नीचे वह पड़ता है। उसके केश पहले उतरते हैं (नीचे होते हैं) फिर खड़े हो जाते हैं और वृक्ष बन जाते हैं। शरीर पणतः पीले रंग में रंगा है और बाल भूरे रग में।

'आगे—एक दूसरा चित्र : एक पीला समुद्र जिसपर कुछ तैरता है जो न तो जलपोत है और न हृदय; क्षितिजपर एक चेहरा है—दीप्तिमान और पीले केशों से युक्त, जो समुद्र बन जाता है और उसी में लुप्त हो जाता है। कुछ चित्रकार अपने रगों को इतना मोटा कर देते हैं कि उससे ऐसी चीज उत्पन्न होती है जो चित्र और शिला के बीच की है। एवं तीसरा चित्र तो और कम बोधगम्य था : एक आदमी का मुखमण्डल; उसके समक्ष एक लपट और काली धारियाँ—मुझे बाद में बताया गया कि वे जोंकें थीं। अंत में मैंने वहाँ उपस्थित एक महाशय से पूछा कि इसका क्या अर्थ है और उन्होंने मझे बताया कि लकड़ीवाला चित्र एक प्रतीक है और 'भूमि' का संकेत करता था। नीले समुद्र में तैरने वाला हृदय 'प्रच्छन्न भ्रम' था, और जोकों को लिए हुए आदमी 'शैतान' था। वहाँ कुछ प्रभाववादी चित्र भी थे; प्राथमिक पार्श्वाकृति, अपने हाथों में कुछ तरह के फूल लिए हुए; एक रंग में, रेखाचित्र में, और या तो एक दम लिपा-पुता या चौड़ी काली रेखाओं द्वारा युक्त।'

यह १८९४ की बात है; वही प्रवृत्ति अब और भी प्रबल हो गई है। और अब बाक्लिन, स्टक, क्लिगर, साशा श्नीडर प्रभृति अन्यान्य पैदा हो गए हैं।

यही दशा नाटक में हो रही है। लेखक एक भवन-निर्माता को उपस्थित करते हैं, जिसने किसी कारण से अपने पहले के उच्च इरादो को नहीं पूरा किया है, और परिणामतः स्वनिर्मित गृह की छत पर चढ़ जाता है और सर के बल लढ़क पड़ता है;[1] या एक अबोधगम्य वृद्ध स्त्री (जो चूहे निकालती है), और जो किसी अज्ञेय कारण से एक कवित्वमय बच्चे को समुद्र के पास ले जाती है और

१. इब्सन का 'महान् निर्माता'—ऐ० मा०

वहाँ उसे वहा देती है;[1] या कुछ अंधे आदमी, समुद्र तट पर वैठकर जो हमेशा किसी कारण से एक ही वात दुहराते रहते हैं;[2] या एक प्रकार की घटी जो एक झील में उड़ जाती है और वहाँ वजती है ।[3]

यही स्थिति संगीत में हो रही है—उस कला में जो अन्य प्रत्येक कला से अधिक सर्वजनसुगम समझी जाती है ।

आपका कोई परिचित प्रसिद्ध संगीतज्ञ पियानो के सामने वैठता है और वह ऐसी चीज वजाता है जिसे अपनी नई रचता, या नवीन सगीतज्ञो में से किसी एक की रचना वताता है । आप विचित्र, उच्च ध्वनियो को सुनते हैं और उसकी उँगलियों द्वारा किए गए व्यायाम की प्रशंसा करते हैं, और आप देखते हैं कि वादक आपको यह समझाना चाहता है कि जिन ध्वनियों को वह उत्पन्न कर रहा है वे आत्मा के विविध काव्यात्मक प्रयत्नो को अभिव्यक्त करती हैं । आप देखते हैं कि उसका इरादा तो आप जान गए, परन्तु ऊव के सिवा और कोई भावना आप तक नही पहुंचती । यह क्रम देर तक चलता है, कम से कम यह आपको वहुत लवा ज्ञात होता है क्योंकि आप कोई स्पष्ट वोध नही प्राप्त करते, और अनिच्छया आपको अलफोजे कार के ये शब्द याद आ जाते हैं 'जितनी जल्दी कोई चीज हो जाय उसका प्रभाव उतना ही चिरस्थायी होता है ।' और आपको लगता है कि शायद यह सव चक्कर में डालने का ढग है; शायद वादक आपकी परीक्षा ले रहा है—केवल अपने हाथों और उँगलियो को अनियन्त्रित ढंग से वाजे पर इस आशा में पीट रहा है कि आप जाल में गिरेंगे और उसकी प्रशंसा करेंगे, और तव वह हँसेगा और वता देगा कि मै केवल यह देखना चाहता था कि तुम्हें वुद्धू वना सकता हूँ या नही; परन्तु अंतत. जव वादन वद होता है और स्वदेयुक्त तथा परेशान सगीतज्ञ पियानो पर से प्रत्यक्ष ही प्रशंसा की आशा लिए उठता है तव आपको पता चलता है कि यह सव ईमानदारी से किया गया था ।

यही दशा सव सगीत समारोहो की है जहाँ लिश्त, वैगनर, वर्लियोज, व्रैह्‌स, और नवीनतम, रिचर्ड स्ट्रास की तथा नए निकाय के उन अन्य असख्य सगीतकारो की

---

१. इब्सन का 'छोटा योल्फ ।'—ऐं० मा०

२ मेटरलिक का 'अंधे ।'—ऐं० मा०

३. जी० हाप्टमैनका 'डाइवर्संकेन ग्लाक ।'—ऐं० मा०

रचनाएँ वजती है जो अनवरत रूप से एक के वाद दूसरी रचना, रागमाला और गीतमाला प्रस्तुत करते रहते हैं ।

यही दशा उस क्षेत्र में हो रही है जिसमें यह एक दम दुर्वोध मालूम पड़ती है—अर्थात्, उपन्यासों और कहानियो के क्षे मे ।

ह्विसमैंस कृत 'नीचे की ओर' या किपलिंग की कुछ कहानियाँ, या विलियर्स द ला' आइल-ऐडम कृत 'क्रूर कथाएँ' में 'उद्घोषक' आदि । और आप इन्हें न केवल 'रहस्यपूर्ण' पाएँगे (यह नवीन लखकों द्वारा प्रयुक्त शब्द है) परन्तु रूप और वस्तु दोनों की दृष्टि से अवोधगम्य भी । ई० मोरेल कृत 'आशा-देश' भी, जो कि इस समय 'रेव्यू व्लांक' में निकल रही है, ऐसी ही है । और इसी तरह के अधिकांश नए उपन्यास हैं । शैली दर्पपूर्ण है, भावनाएँ वहुत उन्नत मालूम पड़ती है, परन्तु आप यह नहीं समझ पाएँगे कि कौन घटना हो रही है, किसके साथ हो रही है, और कहाँ हो रही है । और हमारे युग की नवीन कला का विपुल अंश ऐसा ही है ।

इस शताब्दी के पूर्वार्द्ध में गेटे, शिलर, मूसेट, ह्यूगो, डिकेंस, वीथोवेन, चोपिन राफेल, दा विंसी, माइकेल ऐंजेलो तथा डेला रोचे की प्रशंसा करनेवाले जो लोग हुए, वे इस नवीन कला का लेश भी समझ न सकने के कारण इसकी रचनाओं को रुचिहीन पागलपन की उपज वताते है और इनकी ओर देखना नही चाहते । परन्तु इस नई कला के प्रति ऐसा रुख न्यायपूर्ण नही है, क्योकि पहले तो यह कला अधिकाधिक प्रसार पा रही है और समाज में इसने अपने लिए वैसी ही सुदृढ़ स्थिति वना ली है जैसी इस १९वीं शती के तृतीय दशाब्द में रोमैंटिक (स्वच्छंदतावादी) लोगों नें वना ली थी । दूसरा और मुख्य कारण यह है कि यदि कला के इस नए प्रकार की रचनाओं की इस तरह समीक्षा करना विहित है, जिसे हम पतनशील कला कहते हैं, केवल इसलिए कि हम उसे नहीं समझते, तो स्मरण रखिए कि ऐसे लोगों की संख्या विशाल है—सव श्रमिक, और श्रम न करनेवालों में से अनेक—जो, ठीक उसी तरह, उन कलाकृतियो को नही समझ पाते जिन्हे हम प्रशसनीय समझते है: हमारे प्रिय कलाकारों—गेटे, शिलर और ह्यूगो की कविताएँ; डिकेंस के उपन्यास, चोपिन और वीथोवेन का संगीत, राफ़ेल, माइकेल ऐंजेलो के चित्र, इत्यादि ।

यदि मुझे यह सोचने का हक है कि पूर्ण विकसित न होने के कारण विशाल मानव समुदाय, मेरे द्वारा असंदिग्ध रूप से अच्छी समझी जानेवाली चीज़ को,

नही समझता और पसंद करता, तो मुझे यह अस्वीकार करने का हक नही है कि मैं जो कला की नई कृतियो को नही समझ पाता या पसद कर पाता उसका कारण शायद केवल यह है कि उन्हें समझने के लिए मेरा विकास अभी अपर्याप्त है। यदि मुझे यह कहने का हक है कि मैं और मेरे साथ सहानुभूति रखनेवाले लोगों में से अधिकाश, नवीन कलाकृतियों को इसलिए नहीं समझते क्योकि उनमें समझने के लिए कुछ है ही नही और वह बुरी कला है, तब ठीक उसी हक के साथ और भी बड़े जनसमूह, सभी श्रम करनेवाले, जो मेरे द्वारा प्रशस-नीय समझी जाने वाली कला को नही समझते, कह सकते हैं कि जिसे मैं अच्छा समझता हूँ वह बुरी कला है और उसमें समझने के लिए कुछ भी नही है।

नई कला की इस प्रकार की भर्त्सना मैंने एक बार विशेष स्पष्टतापूर्वक देखी, जब मेरी उपस्थिति में एक ऐसे कवि ने अबोधगम्य संगीत की निर्भय आत्मविश्वासपूर्वक निंदा की, जो स्वय अबोधगम्य गीत लिखा करते हैं; कुछ ही समय बाद एक संगीतज्ञ अबोधगम्य काव्य पर उसी आत्मविश्वास के साथ हँसे, जो स्वय भी अबोधगम्य रागावली की रचना करते हैं। मुझे नई कला की इस आधार पर निंदा करने का कोई हक नही है कि मैं (१९वी शती के पूर्वार्द्ध में शिक्षा प्राप्त व्यक्ति) उसे नही समझता; मैं केवल यह कह सकता हूँ कि वह मेरे लिए अबोधगम्य है। मेरे द्वारा मान्य कला ह्रासोन्मुख कला से इसी माने में अच्छी है कि मेरे द्वारा स्वीकृत कला आज की कला की अपेक्षा कुछ अधिक लोगो को बोधगम्य है।

यह तथ्य कि मैं एक ऐकातिक कला का अभ्यस्त हूँ और उसे समझ सकता हूँ, परन्तु एक दूसरी अधिक ऐकातिक कला को समझने में असमर्थ हूँ, मुझे यह परिणाम निकालने का हक नही देता कि मेरी कला वास्तविक तथा सच्ची कला है और दूसरी कला, जिसे मैं नही समझता, अवास्तविक या बुरी कला है। मैं यही नतीजा निकाल सकता हूँ कि कला अधिकाधिक ऐकातिक होती जाने के कारण, अधिकाधिक लोगो के लिए और भी अबोधगम्य हो गई है और इसमें, अधिका-धिक अबोध्यता की ओर अपनी प्रगति में (जिसके एक स्तर पर मैं अपनी परिचित कला के साथ खड़ा हूँ) यह उस जगह पहुँच गई है, जहाँ यह केवल अल्पसंख्यक अभिजात जन द्वारा समझी जाती है, और इन अभिजात जन की सख्या निरंतर कम होती जा रही है।

ज्यों ही उच्चवर्गीय कला सार्वभौम कला से पृथक् हो गई, त्यों ही यह विश्वास प्रचलित हो गया कि कला कला भी हो सकती है, फिर भी जनता के लिए अबोध-गम्य हो सकती है। और ज्योंही यह स्थिति स्वीकार कर ली गई यह भी अनिवार्यतः स्वीकृत करना पड़ा कि कला बहुत थोड़ी संख्या वाले अभिजात जन के लिए और अंततोगत्वा हमारे समीपतम मित्रों में से दो या तीन या केवल एक के लिए ही बोधगम्य हो सकती है— और व्यवहार में यही आधुनिक कलाकारों द्वारा कहा जा रहा है:—'मैं स्वयं रचता हूँ और यदि कोई मुझे नहीं समझ पाता तो वह निकम्मा है।'

यह दावा कि कला अच्छी कला हो सकती है और साथ ही बहुसंख्यक जनसमुदाय के लिए अबोधगम्य भी, एकदम अन्यायपूर्ण है, और इसके परिणाम स्वयं कला के लिए घातक है, परन्तु साथ ही यह इतना व्यापक है और हमारी धारणाओ को इतना विकृत कर चुका है कि इसकी पूरी बेहूदगी को पर्याप्त रूप से उद्घाटित करना असंभव हो गया है।

प्रसिद्ध कलाकृतियो के विषय में जितना अधिक यह प्रवाद प्रचलित है कि वे अच्छी तो हैं पर दुर्बोध हैं, उतना अधिक अन्य कोई प्रवाद नहीं। हम ऐसे दावों के अभ्यस्त हो गए है, फिर भी यह कहना कि कोई कलाकृति अच्छी है परन्तु बहुसंख्यक मानव समूह के लिए अबोधगम्य है, इसके समान है कि अमुक भोजन बहुत अच्छा है, परन्तु अधिकांश लोग उसे खा नहीं सकते। बहुसंख्यक मानव समूह सड़ा पनीर या सड़ा मांस पसद नहीं कर सकता; क्योकि ऐसी चीजें विभ्रष्ट रुचिवाले लोगो को ही प्रिय होगी; परन्तु रोटी और फलत भी अच्छे है जब वे ऐसे हो कि अधिकाश लोगों को प्रसन्न कर सके। यही बात कला पर भी लागू है। विभ्रष्ट कला बहुसंख्यक लोगो को नहीं प्रिय होगी, परन्तु अच्छी कला हमेशा हर एक को प्रसन्न करेगी।

कहा जाता है कि सर्वोत्तम कलाकृतियाँ ऐसी होती है कि वे जनसाधारण द्वारा नहीं समझी जा सकती, वरन् उन अभिजात जन के लिए ही सुगम होती हैं जो उन बड़ी कृतियो को समझने के लिए प्रस्तुत रहते है। परन्तु यदि अधिकांश जन नहीं समझते तो समझने के लिए अपेक्षित ज्ञान उन्हे दिया और समझाया जाय। पन्तु दिखाई यह पड़ता है कि लोगों को ऐसा ज्ञान है नहीं, कृतियों की व्याख्या नहीं की जा सकती, और जो लोग यह कहते है कि अच्छी कलाकृतियो को अधिकांश जन नहीं समझ पाते, वे इतने पर भी इन कृतियों

की व्याख्या नही करते, वल्कि हमें केवल यह वताते है कि उन्हें समझने के लिये उन्ही को वारम्वार हम पढें, देखें और सुनें। परन्तु यह तो व्याख्या नही है, अभ्यस्त होना है। लोग किसी भी चीज से अभ्यस्त हो सकते है, वुरी से वुरी चीज से भी। जिस तरह लोग वुरे भोजन, मद्य, तम्वाकू और अफीम से अभ्यस्त हो सकते हैं, ठीक उसी प्रकार वे वुरी कला से अभ्यस्त हो सकते है— और यही किया भी जा रहा है।

और फिर, यह नही कहा जा सकता कि अधिकाश लोगो में सर्वोत्तम कलाकृतियो की परख करने की अभिरुचि का अभाव है। जिसे हम सर्वोत्तम कला के रूप में स्वीकार करते है उसे वहुसख्यक लोगो ने हमेशा समझा है और अव भी समझते हैं: उत्पत्ति का महाकाव्य, सुसमाचार की कहानियाँ, लोक-कथाएँ, अप्सरावृत्त, लोकगीत आदि सभी को समझते हैं। यह कैसे हो सकता है कि वहुसंख्यक लोग सहसा उच्च कला को नमझने की क्षमता खो वैठे हैं?

एक भाषण के विपय में यह कहा जा सकता है कि वह प्रशसनीय है परन्तु उन लोगों के लिए अवोधगम्य है जो उस भाषा से अनभिज्ञ है जिसमें वह (भापण) दिया गया है। चीनी भाषा में दी गई वक्तृता वहुत अच्छी हो सकती है; परतु यदि मैं चीनी भापा नही जानता, तो वह मेरे लिए अवोध्य रहेगी। परन्तु अन्य सव मानसिक क्रियाओ से एक कलाकृति को जो तथ्य पृथक् करता है वह यह है कि इसकी भापा सवके द्वारा समझी जाती है, और यह सवको एक समान संक्रमित करती है। एक चीनवासी के अश्रु-हास मुझे उतना ही सक्रमित करते है जितना एक रूसी के अश्रु-हास; और यही अवस्था चित्रकला और संगीत की है, और काव्य की भी, जव उसका अनुवाद ऐसी भापा में किया जाता है जिसे मैं समझता हूँ। एक जापानी या किरगिज के गीत मुझे प्रभावित करते हैं, यद्यपि उतना नही जितना वे एक जापानी या किरगिज को प्रभावित करेंगे। मैं जापानी चित्रकला, भारतीय स्थापत्य और अरवी कथाओ से प्रभावित होता हूँ। यदि मैं जापानी गीत या चीनी उपन्यास से थोडा ही प्रभावित होता हूँ, तो इसका अर्थ यह नही कि मैं इन्हें नही समझता, वरन् यह कि मैं महत्तम कलाकृतियो को समझता हूँ और उन्ही का अभ्यस्त हूँ। यह वात नही है कि उनकी कला मेरे लिए वहुत उच्च है। महान् कलाकृतियाँ इसलिए महान् होती है क्योकि वे सवके लिए सुगम और सुवोध होती हैं। चीनी भापा में अनूदित जोसेफ की कथा चीनी व्यक्ति को भी प्रभावित करती है। शाक्य मुनि (वुद्ध)

की कथा हमे प्रभावित करती है। और ऐसी ही क्षमता वाले अनेक भवन, चित्र, मूर्तियाँ, और संगीत हैं। अतएव यदि कला मनुष्यो को प्रभावित करने में असफल रहती है, तो यह-नहीं कहा जा सकता कि इसका कारण श्रोताओ या दर्शकों की ज्ञानहीनता है, वरन् यह परिणाम निकाला जा सकता है, और चाहिए भी यही, कि ऐसी कला या तो बुरी है या कला ही नही है।

बुद्धि व्यापार के लिए तैयारी और सानुक्रम ज्ञान (जैसे बिना रेखागणित पढ़े त्रिकोणमिति नहीं पढ़ी जा सकती) अपेक्षित है। कला इससे इस तथ्य द्वारा अलग है कि बिना लोगों की शिक्षा और उनके विकास का ख्याल किए कला उन्हें प्रभावित करती है; और चित्र, ध्वनियों, या रूपो का जादू प्रत्येक व्यक्ति को संक्रमित करता है, चाहे वह थोड़ा या ज्यादा विकसित हो।

कला का कार्य यह है: जो तर्क के रूप में अगम्य और अबोध्य है उसे अनुभूय और बोधगम्य बनाना। प्राय: सच्चे कलात्मक अनुभव के ग्रहीता को यह प्रतीत होता है कि वह उस बात को पहले से जानता था पर अभिव्यक्त करने में असमर्थ था।

और उच्च, उदात्त कला की हमेशा यही प्रकृति रही है; इलियड, और ओडिसी; आइजक, जैकब और जोसेफ की कथाएँ; यहूदी भविष्य-द्रष्टा, भजन, धार्मिक आख्यान; शाक्यमुनि की कथाएँ और वेदो के स्तोत्र—ये सब बड़ी उदात्त भावनाओं के प्रेषक हैं फिर भी बोधगम्य हैं, चाहे हम शिक्षित हों या अशिक्षित, उसी प्रकार जिस प्रकार वे प्राचीन युग के उन लोगों के लिए बोधगम्य थे, जो आज के मजदूरों से भी कम शिक्षित थे। लोग अबोध्यता के विषय में विवाद करते हैं; परन्तु यदि कला मानव के धार्मिक बोध से निस्सृत भावनाओं का प्रेषण है, तो वह भावना कैसे अबोध हो सकती है जो धर्म पर आधृत है, अर्थात् ईश्वर और मानव के संबंध पर आधृत है ? ऐसी कला सबके लिए सदैव बोधगम्य होनी चाहिए, और वह रही भी है, क्योंकि ईश्वर से प्रत्येक व्यक्ति का सम्बन्ध एक ही है। इसलिए गिरजाघर और उसके भीतर की मूर्तियाँ प्रत्येक व्यक्ति के लिए सदैव सुबोध हैं। सर्वोत्तम और श्रेष्ठ भावनाओं के परिज्ञान में बाधा स्वरूप (जैसा 'सुसमाचार' में कहा गया है) विद्या की कमी तो हर्गिज नही है, उल्टा मिथ्या विकास और मिथ्या विद्या बाधक है। अच्छी तथा उन्नत कलाकृति अबोधगम्य हो सकती है, परन्तु सरल, अविकृत कृषक श्रमिको के लिए नहीं, (जो सर्वोच्च है उसे वे समझते है)—धर्मविहीन, विभ्रष्ट विद्वानों के लिए वह

अवोधगम्य हो सकती है और प्राय: होती है। और यह निरंतर हमारे समाज में होता है जहाँ कि सर्वोच्च भावनाएँ ही नही समझी जाती। उदाहरणार्थ, मैं ऐसे लोगों को जानता हूँ जो अपने को सुसंस्कृत मानते हैं और जो यह कहते हैं कि हम पडोसी के प्रति प्रेम का, आत्म-वलिदान का, अथवा पवित्रता का काव्य नही समझते।

अत: भद्र, महान्, सार्वभौम, धार्मिक कला भ्रष्ट लोगो के एक छोटे से समूह के लिए अवोधगम्य हो सकती है; परन्तु सरल मानवो के बहुसंख्यक समुदाय के लिए हर्गिज नही।

कला केवल इसलिए विशाल मानव समुदाय के लिए अवोधगम्य नही है क्योंकि वह वहुत अच्छी है—जैसा कि आजकल के कलाकार को कहना पसद है। वरन् हम लोग यह परिणाम निकालने के लिए विवश है कि यह विशाल मानव समुदाय के लिए इसलिए अवोधगम्य है क्योकि यह वहुत वुरी कला है, या एकदम कला ही नही है। अत यह प्रिय दलील (सरलतापूर्वक सस्कृत जन द्वारा मान्य), कि कला को अनुभव करने के लिए पहले उसे समझना चाहिए (जिसका वास्तविक अर्थ है कि उससे अभ्यस्त हुआ जाय) यह सत्य संकेत है कि इस प्रक्रिया द्वारा जिस चीज को हमे समझने को कहा जा रहा है वह या तो वहुत वुरी, ऐकातिक कला है या एकदम कला ही नही है।

लोग कहते है कि कलाकृतियाँ इसलिए लोगो को नही प्रिय हैं क्योकि लोग उन्हें समझने में अक्षम है। परन्तु यदि कला का लक्ष्य यह है कि जिस भावना को कलाकार ने अनुभव किया उससे लोग सक्रमित हो, तो कैसे लोग न समझने की वात कर सकते है ?

एक सामान्य जन एक पुस्तक पढता है, देखता है, नाटक या सगीत सुनता है और किसी भावना से वह आदोलित नही होता। उसे वताया जाता है कि इसका कारण यह है कि वह समझ नही सकता। लोग वादा करते हैं कि कोई आदमी अमुक चित्र देख सकता है; वह प्रवेश करता है और कुछ भी नही देख पाता। उसे वताया जाता है कि इसका कारण यह है कि उसके नेत्र इस खेल के लिए तैयार न थे। परन्तु वह निश्चयात्मक रूप से जानता है कि वह खूब अच्छी तरह देखता है और यदि वादा की गई चीज वह नही देख पाता तो वह इस नतीजे पर पहुंचता है कि (और यह उचित भी है) जिन्होने खेल दिखाने का वादा किया था उन्होने अपनी वात पूरी नही की। और जो व्यक्ति कुछ

कलाकृतियों का प्रभाव अनुभव करता है उसके लिये यह एकदम उचित है कि उन कलाकारों के विषय में ऐसा निष्कर्ष निकाले, जो अपनी कृतियों द्वारा उसके भीतर भावना उत्पन्न करने में असफल हैं। यह कहना कि अमुक व्यक्ति जो मेरी कला से प्रभावित नही होता, उसका कारण यह है कि वह अब तक एक दम वुद्धिहीन है, न केवल वहुत दंभपूर्ण है और उद्दण्डता है वरन् पात्रातर करता है, और वीमार आदमी के वदले स्वस्थ व्यक्ति को चारपाई पर पड़े रहने की सलाह है।

वाल्तेयर ने कहा है 'सिवा ऊव उत्पन्न करनेवाली शैली के अन्य सव शैलियाँ अच्छी हैं।' परन्तु कला के विषय में और भी साधिकार कहा जा सकता है कि 'अवोधगम्य या जो अपना प्रभाव उत्पन्न करने में विफल है ऐसी शैली के सिवा अन्य सव शैलियाँ अच्छी हैं।' अन्यथा उस वस्तु का क्या मूल्य जो अपना निर्दिष्ट कार्य करने में असमर्थ है?

सर्वोपरि इस पर ध्यान दें: यदि केवल यह मान लिया जाय कि कला किसी स्वस्थ मस्तिष्क वाले के लिए अवोधगम्य हो सकती है और फिर भी कला है, तव तो कोई कारण नही है कि कुछ विभ्रष्ट जन ऐसी कृतियाँ न रच डालें जो केवल उन्ही की पतित भावनाओं को गुदगुदाती हो और उनके सिवा अन्य किसी के लिए वोधगम्य नही, और वे उसे 'कला' कहें, जैसा कि वास्तव में पतनशीलों द्वारा किया भी जा रहा है।

कला ने जो दिशा ग्रहण की है उसकी तुलना छोटे वृत्तों को वड़े वृत्त पर रखते जाने से वने हुए शंकु से की जा सकती है, जिसका शिखर अव वृत्त एक दम नहीं रह गया। हमारे युग की कला के साथ यही घटना हुई है।

ग्यारहवाँ परिच्छेद

[कला के जाली रूप कैसे वनते हैं: उधार लेने से; अनुकृति से; चमत्कारपूर्ण होने से; रोचक होने से---वास्तविक कलाकृतियों के उत्पादनार्थ अपेक्षित योग्यताएँ और केवल जाली चीजो की रचना के लिये पर्याप्त योग्यताएँ।]

निरंतर विपय वस्तु की दरिद्रता और रूप की अवोधगम्यता वढ़ती जाने के कारण उच्चवर्गीय कला की नवीनतम रचनाएँ कला के सभी लक्षणों से

रहित है और कृत्रिमता से पूर्ण है। सार्वभौम कला से विरहित होने के फलस्वरूप न केवल उच्चवर्गीय कला विषयवस्तु में दरिद्र और रूप में बुरी हो गई अर्थात् अधिकाधिक अबोधगम्य हो गई बल्कि—कालातर मे यह कला भी नही रह गई और जाली चीजो ने इसका स्थान ले लिया।

इसके कारण निम्नलिखित है : सार्वभौम कला का जन्म तब होता है जब कोई व्यक्ति किसी सबल भाव की अनुभूति होनेपर उसे अन्यो तक पहुंचाने की आवश्यकता महसूस करता है। धनिक वर्ग की कला कलाकार की आभ्यतर प्रेरणा से प्रेरित नही होती वरन् प्रमुखतया इसलिये प्रसूत होती है, क्योंकि उच्चवर्गीय जन मनोविनोद चाहते है और उसके लिये व्यय करते है। वे कला से उन भावो की लब्धि चाहते है जो उन्हें प्रसन्न करे और इस 'चाह' को कलाकार पूरी करने की कोशिश करते है। परन्तु यह एक बड़ा कठिन कार्य है क्योकि धनिक वर्ग के लोग आलस्य और विलास में अपना जीवन विताते हुये निरंतर कला द्वारा रुचि परिवर्तन चाहते है; और निम्नतम कला भी इच्छा-प्रसूत नही हो सकती वरन् कलाकार भी अंतरात्मा में स्वतः प्रस्फुरित होती है। अतएव उच्चवर्गीय लोगो की इच्छा तृप्ति के लिए कलाकारो को कृत्रिम कला-सृजन के ढग सोचने पड़े। और ऐसे ढग सोचे भी गये है।

ये ढग है : (१) उधार लेना (२) अनुकरण करना (३) आश्चर्य उत्पन्न करना (प्रभाव उत्पन्न करना) और (४) रोचक बनाना।

प्रथम प्रकार है प्रत्येक व्यक्ति द्वारा काव्यात्मक मानी हुई पूर्व कृतियो से पूरे विषयो या केवल पृथक् उपकरणो को उधार लेना और उनका इस तरह रूप परिवर्तन करना कि कुछ चीजें जोड़ने के बाद वे नई प्रतीत होने लगे।

ऐसी कृतिया लोगो में पूर्वानुभूत विशिष्ट प्रकार की कलात्मक भावनावो का सस्मरण उत्पन्न करके कला का प्रभाव उत्पन्न करती है और यदि वे अन्य आवश्यक शर्तों के अनुरूप है तो कला में आनन्द खोजनेवालो के बीच कला के रूप में ग्रहण की जाती है। पूर्वकालीन कलाकृतियो से उधार लिए गए विषय प्रायः काव्यात्मक विषय कहे जाते है। इस प्रकार उधार लिए गए उपकरण और व्यक्ति काव्यात्मक उपकरण और व्यक्ति कहे जाते है। फलत. हमारी मडली मे हर प्रकार की किंवदतियाँ, कथाएँ और प्राचीन परम्पराएँ काव्यात्मक विषय समझी जाती है। काव्यात्मक व्यक्तियो और उपकरणो में हम कुमारियो, योद्धाओ, चरवाहो, सतों, देवदूतो, हर तरह के दैत्यो, ज्योत्स्ना, मेघगर्जन, पर्वतो,

समुद्र, चट्टानों, फूलो, लम्बे वालो, मेमनों, वत्तखों और बुलबुलों की गिनती करते हैं। अर्थात् वे सभी उपकरण काव्यात्मक समझे जाते हैं जो पूर्वकालीन कलाकारों द्वारा उनकी रचनाओं में अधिकतर प्रयुक्त है।

करीव ४० साल पहले एक सुसंस्कृत परन्तु घोर मूर्ख महिला (अब मृत) ने मुझसे अपना स्वरचित उपन्यास सुनने को कहा। इसके प्रारंभ में ही काव्यात्मक श्वेत परिधान और काव्यात्मक रूप से प्रवहमान केशो वाली नायिका एक काव्यात्मक जंगल में किसी जलाशय के किनारे कविता पढ़ रही थी। यह दृश्य रूस मे था, परन्तु एकाएक पीछे से नायक निकलता है जो परदार हैट पहने है (पुस्तक में यह विशेषरूप से उल्लिखित है) और जिसके साथ दो काव्यात्मक श्वेत कुत्ते हैं। लेखिका इस सबको परम काव्यात्मक समझती थी और यह सब वैसा ही लगता भी यदि केवल नायक का बोलना आवश्यक न होता। परन्तु ज्यो ही हैटवाले महोदय श्वेतवसना कुमारी से वात करने लगे, त्यों ही यह स्पष्ट हो गया कि लेखिका के पास कहने के लिये कुछ नही है, बल्कि वह अन्य काव्यात्मक स्मृतियों से प्रभावित हो गई और सोचने लगी कि उन स्मृतियों मे थोड़ा परिवर्तन करके वह कलात्मक प्रभाव उत्पन्न करने मे समर्थ होगी। परन्तु कलात्मक प्रभाव, अर्थात् संक्रामकता तब प्राप्त होती है, जब लेखक ने अपने निजी प्रकार से उन भावनाओं का अनुभव किया हो जिन्हें वह प्रेषित करता है। वह अन्य व्यक्ति की उन भावनाओं को न प्रेषित करे जो पहले उसके पास प्रेषित हुई हैं। काव्य से निकला हुआ ऐसा काव्य लोगो को संक्रमित नही कर सकता, यह केवल किसी कलाकृति का अनुकरण मात्र होगा और विभ्रष्ट सौंदर्यात्मक रुचिवाले लोगो को पसंद आयेगा। उक्त महिला के घोर मूर्ख और कौशलहीन होने के कारण तत्क्षण ही ही स्थिति स्पष्ट हो गई; परन्तु जब ऐसे प्रतिभावान् विद्वानों द्वारा उधार लेने की क्रिया की जाती है जो अपने निर्माण-कौशल में निष्णात है तब हम ग्रीक, प्राचीन, ईसाई या पौराणिक संसार से उधार ली गई उन चीजो को पाते हैं जो विपुल हैं और जो, खास कर हमारे युग में, निरंतर बढ़ती जा रही हैं और लोगों द्वारा कला के रूप में भी मान्य है, यदि केवल उधार ली गई सामग्री उक्त कला विशेष के निर्माण-कौशल द्वारा अच्छे रूप में प्रस्तुत की गई है।

काव्य के क्षेत्र में कला के इस जाली रूप का एक लाक्षणिक उदाहरण, रोस्टैण्ड की "राजकुमारी लायण्टेल" है, जिसमे कला की एक चिनगारी भी

नही है, परन्तु जो वहुत लोगो को और शायद रचयिता को भी काव्यमय मालूम पड़ती है ।

कलाभास उत्पन्न करने का दूसरा प्रकार अनुकरण की क्रिया है। इसका तत्व है वर्ण्य विषय या चिन्ता से संवधित विवरण प्रदान करना । साहित्यिक कला में यह प्रणाली इन स्थलो में दृष्टिगोचर होती है : सूक्ष्मतम विवरण के साथ वर्णित पात्रों के वाह्य रूप; आकृतियो, कपड़ो, मुद्राओ, ध्वनियो, वासस्थलों के वर्णन में और उनके जीवन में घटित सब घटनाओ के वर्णन में, उदाहरणार्थ उपन्यासो और कहानियो में जब कोई पात्र वोलता है तब हमें वताया जाता है कि वह किस प्रकार की वाणी में वोला और उस वक्त क्या कर रहा था। और कही गई वातें इस रूप में नही दी जाती कि वे यथासंभव अधिक अर्थपूर्ण हो वल्कि जैसी वे जीवन में होती है—असवद्ध, वाधाओ से और भूलों से युक्त । नाटक-कला में वास्तविक सलाप की इस अनुकृति के अलावा इस प्रणाली के अनुसार यथार्थ जीवनके-से पात्रों और उपकरणो को प्रस्तुत किया जाता है। चित्रकला में यह प्रणाली चित्राकन को प्रतिरूप वनाने (फोटोग्रैफी) तक सीमित कर देतो है और दोनों के अन्तर को नष्ट कर देती है। और आश्चर्यजनक तो यह है कि यह प्रणाली संगीत में भी व्यवहृत होती है सगीत न केवल अपनी गति द्वारा वरन् अपनी ध्वनियो द्वारा भी उन ध्वनियो का अनुकरण करने का यत्न करता है, जो यथार्थ जीवन में उस वस्तु से संवंधित रहती हैं जिन्हें वह प्रस्तुत करना चाहता है ।

तीसरी प्रणाली है वाह्य इन्द्रियो पर प्राय: एकदम शारीरिक क्रिया द्वारा । इस प्रकार की कृति (रचना) 'चमत्कारपूर्ण' और 'प्रभावशाली' कही जाती है। सव कलाओ में ये प्रभाव प्रमुखत: अतर के रूप मे विद्यमान होते है . भयानक और कोमल, सुन्दर और घृणोत्पादक, प्रवल और कोमल, अधकार और प्रकाश, अति सामान्य और असाधारण को साथ रखने में । शाब्दिक कला मे भेद के प्रभावों के अलावा वे प्रभाव भी होते है जो अपूर्ववर्णित वस्तुओ के वर्णन मे विद्यमान रहते है । ये प्राय: कामोत्तेजक, अश्लील विवरण होते है या आतंक को भावनाएँ उत्पन्न करनेवाली तकलीफो और मृत्युओं के विवरण—उदाहरणार्थ, हत्या का वर्णन करते समय, आहत नाड़ियो का; शोथ का, रक्त के गंध, रंग और मात्रा का, चिकित्सा-शास्त्र संवधी विशद विवरण देना । यही वात चित्रकला में है · अन्य भेदो के अलावा जो अव प्रचलित हो रहा है वह है एक वस्तु को ध्यानपूर्वक वनाना

और शेष सब वस्तुओं के विषय में लापरवाह रहना। चित्रकला मे समान्यतः प्रमुख प्रभाव है प्रकाश और भयोत्पादक का प्रदर्शन। नाटक मे भेदों के अलावा बहुप्रचलित प्रभाव है तूफान, मेघगर्जन, चाँदनी, समुद्र या उसके तट के दृश्य, वेश परिवर्तन, नारी देह का अनावरण, पागलपन, हत्या और प्रायः मृत्यु : मरता हुआ व्यक्ति कष्ट की सभी स्थितियों को विशद रूप से दिखाये। संगीत में सर्वाधिक व्यवहृत प्रभाव है एक आरोह, जो कोमल और सरलतम ध्वनियों से उठता हुआ सब वाद्ययंत्रों के तीव्रतम और संश्लिष्ट धड़ाके मे पर्यवसित हो; उन्ही ध्वनियों की आरोहात्मक पत्र सब परिवर्तनों मे, और सब बाजों पर, पुनरावृत्ति, या सामंजस्य, लाभ और गति ऐसे न हों जो संगीतात्मक विचार-प्रवाह से स्वभावतः उत्पन्न हो, बल्कि ऐसे हों कि हमें अपनी आकस्मिकता से आश्चर्य मे डाल दें। इनके अलावा संगीत में सामान्यतम प्रभाव ध्वनि की शक्ति द्वारा एकदम शारीरिक प्रकार मे उत्पन्न किये जाते है, विशेषकर वाद्य-समारोह मे।

विविध कलाओं मे सर्वाधिक प्रयुक्त प्रभाव यही है, परंतु एक प्रभाव सब मे प्राप्य है, अर्थात् किसी चीज की अभिव्यक्ति जिस कला से सर्वाधिक स्वाभाविक है, उससे न करके अन्य कला मे करना : उदाहरणार्थ संगीत द्वारा वर्णन कराना (जैसा कि वैगनर और उनके अनुयायियो के आयोजन-संगीत द्वारा किया जाता है), या चित्र या नाटक या काव्य द्वारा एक प्रकार की मानसिक स्थिति उत्पन्न करना जो समस्त ह्रासवादी कला का लक्ष्य है)।

चौथी प्रणाली है कला-कृतियो के संबंध मे रोचकता उत्पन्न करना (अर्थात् मस्तिष्क को व्यस्त करना)। रोचकता एक जटिल कथानक में हो सकती है—यह प्रकार अभी कुछ समय पहले तक अंग्रेजी उपन्यासों और फ्रेंच नाटकों में अधिक प्रयुक्त हुआ है—परंतु अब इसका प्रचलन बंद हो रहा है और इसके स्थान पर यथार्थवाद आसीन हो रहा है अर्थात किसी ऐतिहासिक युग के या समकालीन जीवन के किसी अंग के विशद वर्णन द्वारा। उदाहरणार्थ, उपन्यास मे, मिश्र या रोम के जीवन-वर्णन में रोचकता हो सकती है, या खदान-श्रमिको के या किसी बड़ी दूकान के क्लर्कों के जीवन-वर्णन मे रोचकता हो सकती है। पाठक ध्यान मग्न हो जाता है और इस रोचकता को कलात्मक प्रभाव समझ बैठता है। रोचकता अभिव्यक्ति की शैली में हो सकती है—ऐसी रोचकता आजकल अधिक प्रयुक्त हो रही है। गद्य और पद्य, चित्र, नाटक और संगीत ऐसे रचे जाते है कि वे पहेलियों की तरह बूझे जायँ, और अटकलबाजी की यह प्रक्रिया,

आनन्द प्रदान करती है और कला से मिलनेवाली भावना की छाया मात्र उत्पन्न करती है ।

प्राय कहा जाता है कि अमुक कलाकृति इसलिये बहुत अच्छी है क्योंकि वह काव्यात्मक है, या यथार्थपरक है, या विस्मयजनक है, या रोचक है, जबकि न केवल प्रथम, न द्वितीय, न तृतीय और न चतुर्थ लक्षण कला की श्रेष्ठता का मानदण्ड नही प्रदान करते, बल्कि कला और इनके बीच एक भी संबधसूत्र नही है ।

काव्यात्मक—इसका अर्थ है उधार लिया हुआ । सारी उधार सामग्री दर्शक, या श्रोता को पूर्ववर्ती कलाकृतियो से प्राप्त कलात्मक अनुभूतियो की धुंधली याद दिलाती है और स्वय कलाकार द्वारा अनुभूत भावना से उन्हे सक्रमित नही करती । किसी उधार ली गई चीज़ पर आधृत कृति, उदाहरणार्थ गेटे के फ़ास्ट की तरह, बहुत सुन्दर बन सकती है और बौद्धिकता तथा प्रत्येक सौदर्य से परिपूर्ण हो सकती है, परतु क्योंकि इसमें कलाकृति के प्रमुख लक्षण का अभाव है—अर्थात पूर्णता, एकता, रूप और वस्तु का अविच्छेद्य ऐक्य जो कलाकार द्वारा अनुभूत भावना को व्यक्त करे—इसलिये यह वास्तविक कलात्मक प्रभाव नही उत्पन्न कर सकती । इस प्रणाली का लाभ उठाने मे कलाकार केवल पूर्ववर्ती कलाकृति से प्राप्त भावना को प्रेपित करता है, अत प्रत्येक उधार, चाहे पूरे विपयो का हो, या विविध दृश्यो, स्थितियो या वर्णनो का हो, केवल कला की छाया है, मिथ्या प्रतीति है, स्वय कला नही है । इसलिए यह कहना कि अमुक कृति अच्छी है क्योंकि काव्यात्मक है—अर्थात्, कलाकृति से मिलती-जुलती है—किसी सिक्के के विषय में यह कहने के समान है कि वह अच्छा है क्योंकि वह वास्तविक धन से मिलता-जुलता है ।

ठीक उसी प्रकार अनुकरण या यथार्थवाद, कला के लक्षण का मानदण्ड नही हो सकता । भले ही कुछ लोग ऐसा समझें । अनुकरण मानदण्ड नहीं हो सकता क्योंकि कला का प्रमुख लक्षण है अन्यो को उस भावना मे सक्रमित करना जिसका अनुभव कलाकार ने स्वय किया हो और किसी भावना मे सक्रमित होना न केवल प्रेपित विपय के उपागो के वर्णन के तुल्य नही है वरन् अधिकतर अनावश्यक विवरणो द्वारा उसकी अनुभूति में बाधक भी । कलात्मक अनुभव के ग्रहीता का ध्यान उन विस्तार से निरूपित विवरणो द्वारा विपयातरित हो जाता है और वे विवरण भावना के प्रेषण मे उस समय भी बाधक होते है जब कि कोई भावना होती भी है ।

किसी कलाकृति का उसकी यथार्थता की मात्रा से या पुनरुल्लिखित विवरणो की सत्यता से मूल्यांकन उतना ही विस्मयजनक है जितना भोजन के वाह्य रूप से उसकी पोषक शक्ति का निर्णय करना। जब हम किसी कृति का मूल्यांकन उसकी यथार्थता के अनुसार करते है, तव हम यही प्रमाणित करते हैं कि हम कलाकृति के वियय में नही अपितु उसके जाली रूप के विपय मे वात कर रहे हैं।

न तो कलानुकृति की तीसरी प्रणाली—प्रभावोत्पादक अथवा चमत्कारपूर्ण का प्रयोग—कला के अनुरूप है, जैसी कि पूर्वोक्त दो प्रणालियाँ भी नही है, क्योकि प्रभावकता मे (नव्यता, आकस्मिकता, भयोत्पादक या विभेद के प्रभाव) किसी भावना का प्रेषण नही होता बल्कि केवल स्नायुओं पर क्रिया होती है। यदि कोई कलाकार रक्तरंजित घाव को स्तुत्य रूप में चित्रित करे, तो घाव का दर्शन मुझे आश्चर्यजनक लगेगा, परंतु वह कला नही है। एक सवल वाजे पर विलम्वित झंकार आश्चर्यपूर्ण प्रभाव उत्पन्न करेगी, कभी आँसू भी उत्पन्न कर देती, परतु उसमें संगीत नही है; क्योकि कोई भावना नही प्रेषित होती। परतु हमारे वर्ग के लोगो द्वारा निरतर ये शारीरिक प्रभाव भ्रमवश कला समझे जाते है, और केवल सगीत मे ही नही वरन् काव्य, चित्रांकन, और नाटक मे भी। कहा जाता है कि कला सुसंस्कृत हो गई है। इसके विपरीत, प्रभावो के प्रचलनवश, कला वड़ी भद्दी हो गई है। एक नई रचना सामने आती है और संपूर्ण योरोप में स्वीकृत हो जाती है। उदाहरणार्थ, जी० हाप्टमैन कृत 'हैनेल हिमेलफार्ट', जिस नाटक मे लेखक एक पीड़ित वालिका के लिए दर्शको मे करुणा उत्पन्न करना चाहता है। दर्शक वृन्द मे कला द्वारा ऐसी भावना उत्पन्न करने के लिये या तो लेखक अपने किसी पात्र द्वारा इस करुणा को ऐसे रूप मे अभिव्यक्त कराये कि सव लोग सक्रमित हो जायँ या लड़की की भावनाओ को ठीक-ठीक वर्णित करे। परंतु वह ऐसा या तो करेंगे नही या कर नही सकते, और एक दूसरा तरीका अख्तियार करते है जो मच-प्रवध की दृष्टि से तो अधिक जटिल है परंतु लेखक के लिए आसान है। वह रंगमंच पर वालिका की मृत्यु करते है; और दर्शको पर पड़े शारीरिक प्रभाव को और वढ़ाने के लिए वह थियेटर की रोशनी वुझा देते है, दर्शक अंधकार में पड़ जाते है, और दुःखजनक संगीत के साथ वह यह प्रदर्शित करते है कि कैसे शरावी पिता लड़की का पीछा करता है और उसे पीटता है। लड़की भयत्रस्त होती है—चीखती है, कराहती है—और गिर पड़ती है। देवदूत आते है और उसे उठा ले जाते है। और दर्शकगण, इस पर कुछ उत्तेजना

का अनुभव करने के कारण विश्वस्त हो जाते हैं कि यही सच्ची सौंदर्यात्मक भावना है। पर ऐसी उत्तेजना में सौंदर्यात्मक कुछ भी नहीं है, क्योंकि इसमें मनुष्य द्वारा मनुष्य का सक्रमित होना नही है, वरन् दूसरे के लिए करुणा और अपने लिये संतोष की एक मिश्रित भावना है कि मैं नही दु:ख भोग रहा हूँ   ठीक वैसी भावना जैसी हम किसी की फाँसी देखकर अनुभव करते है, या जैसी रोमन लोग अपने सर्कसो में अनुभव करते थे।

सौंदर्यात्मक भावना के स्थान में प्रभाव की प्रतिष्ठा सगीत कला मे विशेष रूप से दृष्टव्य है—उस कला में जो स्वाभाविक रूप से स्नायुओ पर शारीरिक क्रिया करती है। स्वानुभूत भावनाओ को राग द्वारा प्रेषित करने के बजाय नये निकाय का रचयिता ध्वनियो का सग्रह करता है, उन्हें सश्लिष्ट बनाता है और कभी उन्हें प्रबल, कभी निर्बल करके, श्रोताओ पर ऐसे प्रकार का शारीरिक प्रभाव उत्पन्न करता है जिसे उस यत्र द्वारा नापा जा सकता है जो उस प्रयोजन के लिए आविष्कृत किया गया है।[1] और जनता इस शारीरिक प्रभाव को भ्रमवश कला का प्रभाव मान लेती है।

जहाँ तक चौथी प्रणाली का सबध है—रोचकता उत्पन्न करना—यह भी प्राय कला के साथ उलझा दिया जाता है। प्राय हम न केवल कविता, उपन्यास अथवा चित्र के विषय में अपितु सगीत के विषय मे भी सुनते हैं कि वह रोचक है। इसका क्या अर्थ है? रोचक कलाकृति का अर्थ या तो यह है कि हम किसी कलाकृति से नया ज्ञान (सूचना) प्राप्त करते है या कृति पूर्णत बोधगम्य नही है और क्रमश सायास हम इसका अर्थ जान पाते हैं और अर्थ का अनुमान लगाने मे एक प्रकार का आनंद अनुभव करते हैं। किसी भी दशा में रोचकता से और कलात्मक अनुभूति से कोई भी सबध नही है। परतु कृति में निहित नये ज्ञान को दर्शक, श्रोता या पाठक के लिए बोधगम्य बनाने के लिये या निरूपित पहेलियो को बूझने के लिए अपेक्षित मानसिक प्रयास उसका ध्यान भंग करके इस सक्रामकता मे बाधा डालता है। अतएव किसी कलाकृति की रोचकता और उसके कलात्मक वैशिष्ट्य में कोई सबध नही है, वरन् वह कलात्मक अनुभूति की उपलब्धि मे सहायक होने के बजाय बाधक है।

---

१. एक यंत्र है जिसके द्वारा एक बहुत संवेदनशील बाण, बाँह की एक मासपेशी के तनाव पर निर्भर रहकर, स्नायुओ और पेशियों पर संगीत का शारीरिक प्रभाव इंगित करता है।—तालस्ताय।

किसी कलाकृति मे हम काव्यात्मक, यथार्थवादी, चमत्कारपूर्ण या रोचक तत्त्व पा सकते है परतु ये चीजे कला के अनिवार्य लक्षण का स्थान नही ले सकती—अर्थात् कलाकार द्वारा अनुभूत भावना। आधुनिक उच्चवर्गीय कला मे कलाकृति के नाम से विज्ञापित अधिकाश चीजें ऐसी है जो केवल कला से मिलती-जुलती है परंतु कला के अनिवार्य लक्षण से रहित हैं—कलाकार द्वारा अनुभूत भावना से शून्य है। और धनिको के विनोदार्थ विपुल परिमाण मे ऐसी चीजें कला के कारीगरो द्वारा निरंतर बनाई जा रही है।

कई शर्तो को पूरा करने के बाद कोई व्यक्ति सच्ची कलाकृति बनाने में समर्थ होता है। यह आवश्यक है कि वह अपने युग के श्रेष्ठतम जीवन-चितन के स्तर पर अवस्थित हो, भावानुभूति से युक्त हो, और उसे प्रेषित करने की योग्यता और इच्छा से युक्त हो, और किसी कला-रूप के लिए विशेष कौशल रखता हो। सच्ची कला सृष्टि के लिए अपेक्षित इन सारी शर्तो का संकलन तो प्राय बहुत कम ही होता है। परतु निरंतर जाली कला-रचना के लिए—उधार, अनुकरण, प्रभाव सृष्टि, और रोचकता के प्रचलित प्रकारो की सहायता से—जो हमारे समाज में कला के नाम पर चल निकलती है और अच्छी तरह पुरस्कृत होती है,—केवल इतना आवश्यक है कि कला की किसी शाखा मे कुछ कौशल प्राप्त हो, और प्राय यही होता है। कौशल से मेरा तात्पर्य है 'योग्यता' से : साहित्यिक कला में अपने विचारो-अनुभवो को सरलता से व्यक्त करने और आवश्यक विवरणो को समझने और स्मरण रखने की योग्यता; चित्रात्मक कलाओं में रेखाओ, रूपो, वर्णो को स्मरण रखने और अलग करने की योग्यता; सगीत मे विरामो के विवेक और ध्वनिक्रम को स्मरण और प्रेषित करने की योग्यता। और यदि इस युग में किसी व्यक्ति के पास ऐसा कौशल है और वह कोई विशेषता चुनता है तो अपनी कला-प्रशाखा मे प्रयुक्त जालीपन के ढंगो को सीख लेने के बाद—यदि उसके पास धैर्य है और यदि उसकी कलात्मक भावना (जिसे ऐसी कृतियाँ घृणास्पद बना देंगी) क्षयग्रस्त हो चुकी है—जीवनपर्यन्त अनवरत रूप से ऐसी रचनाएँ करता रहेगा जो हमारे समाज में कला के नाम पर चलेंगी।

ऐसी जाली चीजें रचने के लिए कला की प्रत्येक शाखा में निश्चित नियम और नुस्खे है। अतएव कौशलयुक्त व्यक्ति उन्हे आत्मसात् करने के बाद ऐसी कृतियाँ यान्त्रिक शाति से रच सकता है जो अनुभव रहित और स्पंदनहीन रहती हैं।

कविताएँ लिखने के लिए साहित्यिक कौशल वाले व्यक्ति को केवल इन

योग्यताओ की आवश्यकता है : यति और तुक की आवश्यकताओ के अनुरूप, एक परमोचित शब्द के वजाय करीव उसी अर्थ के दस शब्दो का प्रयोग करने की प्रवृत्ति; यह सीखनाकि कैसे कोई शब्द समूह लिया जाय जिसमे स्पष्टता के लिये केवल एक स्वाभाविक शब्द-व्यवस्था है, और सभी असंवद्धताओ के वावजूद उसमें फिर भी कुछ अर्थ वनाए रखना, और अंत में, तुकों के लिए अपेक्षित शब्दो से निर्देशन पाकर, इन शब्दो से सामजस्य रखने वाले छायात्मक भावो, विचारो, वर्णनो की योजना करना। इन योग्यताओ को पा लेने के वाद वह अनवरत रूप से कविताएँ लिख सकता है—छोटी या वडी, धार्मिक, देशभक्ति सवधी या प्रेम संवंधी, जैसी भी फरमाइश हो।

यदि साहित्यिक कौशलवाला कोई मनुष्य कहानी या उपन्यास लिखना चाहता है तो उसे केवल अपनी शैली वनाने की आवश्यकता है—अर्थात् जो कुछ वह देखता है उसे वर्णन करना सीख जाय—और विवरणो का निरीक्षण और स्मरण करने का अभ्यासी हो जाय। जव वह इनमें अभ्यस्त हो चुके तव वह अपनी प्रवृत्ति या फरमाइश के अनुसार अनवरत रूप से उपन्यासो या कहानियो की रचना कर सकता है—ऐतिहासिक, प्रकृतवादी, सामाजिक, मनोवैज्ञानिक, प्रेमात्मक, या धार्मिक भी जिसके लिए फरमाइश और लोकप्रियता प्रारभ हो गई गई है। वह जीवन की घटनाओ से या पुस्तको से विषय ले सकता है, और अपनी पुस्तक मे अपने परिचितो के चरित्रो का अनुकरण कर सकता है।

और ऐसे उपन्यास और ऐसी कहानियाँ, यदि वे केवल सुनिरीक्षित और ध्यानपूर्वक अंकित विवरणो से सजाये गये है, खासकर प्रेमात्मक विवरणो से, तो वे कलाकृति माने जाएँगे, चाहे उनमें अनुभूत भावना का एक अणु भी न हो।

कला को नाटकीय रूप में उपस्थित करने के लिए एक कुशल व्यक्ति, उपन्यास और गल्प की अपेक्षाओ के अलावा, अपने पात्रो से यथासंभव अधिक विदग्धता भरे वाक्य कहलाना सीखे, रंगमंचीय प्रभावो को कैसे प्रयुक्त किया जाता है यह सीखे, और अपने पात्रो के कार्य को इस तरह सयुक्त करे कि लवे सवाद न रहने पाएँ, परतु मच पर जितना भी सभव है उतना अधिक शोर और आवागमन हो। यदि लेखक इतना करने मे सक्षम है तो वह अदालतो के निर्णयो से, या नवीनतम सामाजिक विषय जैसे सम्मोहन या वंश परपरा से, या गहन अतीत से, या कल्पना क्षेत्र से विषयो को चुनकर एक के वाद दूसरा नाटकीय ग्रथ-निर्माण कर सकता है।

चित्र और शिल्प में तो कृत्रिम कला का निर्माण करना कुशल व्यक्ति के

लिये और भी आसान है। उसे केवल रग भरना, रेखा खीचना और आकृति वनाना सीखने की जरूरत है—खास कर नग्न शरीरों की। इस तरह सावन सम्पन्न होकर अपनी रुचि के अनुसार विषय चुनकर वह सदैव चित्र वना सकता है, मूर्ति निर्माण कर सकता है : जो पौराणिक, या वार्मिक, या काल्पनिक या प्रतीकात्मक हो सकते है; या वह समाचारपत्रो में वर्णित वातों का चित्रण कर सकता है : अर्थात् राजतिलक, हड़ताल, तुर्किस्तान और ग्रीस का युद्ध, अकाल के दृश्य; या सवसे सरल है कि वह जिसे सुन्दर समझता है केवल उसकी अनुकृति वना दे—नग्न नारियो से लेकर ताँवे के पात्र तक।

सगीतात्मक कला के उत्पादनार्थ कुशल व्यक्ति को कला के अनिवार्य तत्त्व अर्थात् अन्यो को संक्रमित करनेवाली भावना की और भी कम जरूरत है, परतु उसे नृत्य के सिवा अन्य किसी कला की अपेक्षा अधिक शारीरिक, व्यायात्मक परिश्रम करने की आवश्यकता है। सगीतात्मक कला के उत्पादनार्थ उसे पहले उन लोगों की तरह से किसी वाजे पर शीघ्रता से उँगली फेरना सीखना चाहिए जो उच्चतम पूर्णता प्राप्त कर चुके है; फिर उसे जानना चाहिये कि पहले कैसे अनेक स्वरवाला संगीत लिखा जाता था, यह जानना चाहिये कि संगीत के और चमत्कार क्या है; और उसे वाद्ययोजना सीखनी चाहिये अर्थात् यह जानना चाहिये कि यंत्रो की प्रभावकला का प्रयोग कैसे किया जाता है। परतु एक वार यह सव सीख लेने पर, रचयिता एक के वाद दूसरी कृति का निर्माण अनवरत रूप से कर सकता है; चाहे आयोजन-संगीत हो या सगीत-नाटक हो या गीत हो (शब्दो से अल्पाधिक सामजस्य रखनेवाली ध्वनियो की योजना करना), या कक्ष-सगीत हो अर्थात् वह अन्य किसी की वस्तुएँ लेकर उन...चमत्कारों के द्वारा उन्हें सुस्पष्ट रूपों में विन्यस्त कर सकता है; या सर्वाधिक प्रचलित रीति तो यह है कि वह ऊलजलूल सगीत रच सकता है अर्थात् सरलतया उपलव्ध ध्वनि-समूह को वह हर तरह की जटिलता और सज्जा से लाद दे।

इस प्रकार कला के हर क्षेत्र मे जाली कला एक पूर्वनिर्मित, पूर्वायोजित नुस्खे के अनुसार वनाई जा रही है और उच्चवर्गीय लोग इस सारे जाली माल को कला के रूप में स्वीकार कर रहे है।

और सच्ची कलाकृतियो की जगह जाली कृतियो की प्रतिष्ठा, सार्वभौम कला से उच्चवर्गीय कला के पृथक्करण का तीसरा और सर्वप्रमुख परिणाम था।

—:०:—

बारहवाँ परिच्छेद

[जाली चीजों के उत्पादन के कारण—व्यावसायिकता (पेशेवर रचना) —आलोचनाएँ—कला के निकाय। रूप की पूर्णता उस प्रभाव को उत्पन्न करने के लिए आवश्यक है जो किसी कलाकृति की विशेषता है।]

हमारे समाज मे जाली कलाकृतियो के निर्माण मे तीन शर्तें सहयोग करती हैं। वे हैं · (१) कृतियो के लिए कलाकारो को प्रचुर पुरस्कार और कलाकारो में तज्जन्य कमाऊ-वृत्ति, (२) कला की समीक्षा और (३) कला के निकाय।

जब कला विभक्त न हुई थी और केवल धार्मिक कला पूजित और पुरस्कृत होती थी और व्यर्थ कला अपुरस्कृत रहती थी, तब जाली कलाकृतियाँ नही बनती थी और यदि कोई होती भी थी तो सब लोगो की आलोचना से उसका पर्दा फाश हो जाता और वह विलुप्त हो जाती थी। पर ज्यो ही वह पृथक्करण हुआ और उच्चवर्गीय जन हर प्रकार की आनंद प्रदायक कला को अच्छी घोषित करने लगे, और अन्य किसी सामाजिक प्रक्रिया की अपेक्षा ऐसी कला को अधिक पुरस्कृत करने लगे त्यो ही बहुत से लोगो ने अपने को इस व्यापार में नियोजित कर दिया और कला का रूप बदल गया, फलतः वह पेशा हो गई।

और ज्यों ही यह घटना हुई त्यो ही कला का प्रमुख और सर्वाधिक मूल्यवान् लक्षण—इसकी निष्ठा—एक दम क्षीण हो गई और अततः एकदम विनष्ट हो गई।

पेशेवर कलाकार अपनी कला के सहारे जीता है और उसे अपनी कृतियो के लिए निरंतर विषयों की खोज करनी पडती है और वह खोजता भी है। और यह प्रत्यक्ष है कि एक ओर यहूदी मसीहाओ, भजनो के रचयिताओ, असीसी के फ्रासीसी, इलियड और ओडेसी के रचयिताओ, लोकगीतो, लोककथाओ, जन-श्रुतियो के रचयिताओ (जिनमें से अधिकाश ने न केवल अपनी कृतियो के लिये पारिश्रमिक नही पाया वरन् उनमें अपना नाम तक नही दिया) की कलाकृतियो में और दूसरी ओर सम्मान और सपदा पाने वाले दरबारी कवियों, नाटककारो और सगीतकारो की, अथवा बाद में पेशेवर कलाकारों की कृतियो मे, जो कि कला को उपजीव्य बनाए हुये है और सपादको, प्रकाशको, आयोजन-प्रबधको

ग्रौर कलाकारो तथा नागरिक कला-भोक्ताग्रो से पुरस्कार पाते है, कितना वडा ग्रंतर होगा ।

पेशेवाज़ी, जाली एवं मिथ्या कला के प्रसार की पहली शर्त है ।

दूसरी शर्त है कला-ग्रालोचना की ग्राधुनिक वृद्धि ग्रर्थात् कला का मूल्याकन सर्वसामान्य द्वारा नही, साधारण लोगो द्वारा नही वल्कि विद्वानो द्वारा, ग्रर्थात, विभ्रष्ट परंतु ग्रात्मविश्वासी व्यक्तियो द्वारा ।

कलाकारो से ग्रालोचको के सवध पर वोलते हुए मेरे एक मित्र ने ग्रर्धविनोद के साथ कहा . 'ग्रालोचक वे मूर्ख है जो वुद्धिमानो की समीक्षा करते है ।' यह व्याख्या कितनी भी ग्रसत्य, उद्दण्ड, पक्षपातपूर्ण हो फिर भी ग्रशत. सत्य है ग्रौर उस भाषा से तो ग्रपेक्षाकृत कई गुना न्यायपूर्ण है जो कलाकृतियो की व्याख्या करने में ग्रालोचकों को समर्थ समझती है ।

'ग्रालोचक व्याख्या करते है !' वे क्या व्याख्या करते है ?

कलाकार, यदि सच्चा कलाकार है, तो उसने स्वानुभूत भावना को ग्रन्यो तक प्रेपित किया है । तव व्याख्या किस चीज़ की करनी वाकी रह गई ?

यदि कोई कृति ग्रच्छी कलाकृति है तो कलाकार द्वारा व्यक्त भावना—चाहे वह नैतिक हो या ग्रनैतिक—ग्रन्यो तक पहुँच जाती है । यदि यह ग्रन्यो तक पहुँच गई, तो वे उसे ग्रनुभव करते है, ग्रौर तव सारी व्याख्याएँ व्यर्थ है । यदि कृति लोगो को संक्रमित नही करती तो कोई व्याख्या उसे सक्रामक नही वना सकती । कलाकार की कृति की व्याख्या नही की जा सकती । यदि ग्रपने प्रेप्य मन्तव्य को शव्दो में वताना सभव होता तो कलाकार शव्दो में ग्रात्माभिव्यक्ति करता । उसने उसे ग्रपनी कला द्वारा व्यक्त किया, केवल इसलिये क्योकि उसके द्वारा ग्रनुभूत भावना ग्रन्य प्रकार से नही प्रेपित की जा सकती थी । कलाकृतियो की शव्दो द्वारा व्याख्या केवल यह सकेत करती है कि व्याख्याकार स्वय कला की सक्रामकता को ग्रनुभव करने मे ग्रसमर्थ है । ग्रौर वास्तव मे स्थिति यही है, क्योकि, भले ही यह कहने में कुछ ग्रजीव लगे परन्तु कलाकार हमेशा ऐसे लोग होते है जो ग्रन्यो की ग्रपेक्षा कला की संक्रामकता से कम प्रभावित होते है । ग्रधिकतर वे ग्रच्छे लेखक, शिक्षित ग्रौर निपुण होते है परतु उनमें यह कमजोरी होती है कि वे भ्रष्ट ग्रौर क्षयग्रस्त कला से सक्रमित होते है । इसलिये उनका रचित साहित्य सदैव उस जनता के रुचि-भ्रश मे सहायक हुग्रा है जो उन्हे पढ़ती ग्रौर उनपर विश्वास करती है ।

कला-आलोचना उन समाजो में थी ही नहीं—न हो सकती थी, न हो सकती है—जहाँ कला अविभक्त है और फलतः जहाँ जनसामान्य मे प्रचलित जीवन के धार्मिक बोध के द्वारा उसका मूल्यांकन होता है। कला समीक्षा केवल उच्च वर्गों की कला पर खडी हुई और उसी पर हो भी सकती थी, क्योकि उन्होंने अपने युग की धार्मिक दृष्टि को नहीं स्वीकार किया।

सार्वभौम कला का एक निश्चित और असंदिग्ध आभ्यंतर लक्षण है—धार्मिक दृष्टि; उच्चवर्गीय कला में इसका अभाव है, अतएव उस कला के प्रशंसक मजबूरीवश किसी बाह्य लक्षण से चिपके रहते है। और एक अंग्रेज सौंदर्य-शास्त्री के शब्दो मे वे इसे 'कुलीनतम जन के निर्णयो में' पाते हैं, अर्थात्, शिक्षित माने जानेवाले के अधिकार में पाते है: केवल इसी में नही वरन् ऐसे अधिकारियो की एक परंपरा में भी। यह परपरा एकदम भ्रामक है क्योकि एक तो 'कुलीनतम जन' की सम्मतियाँ प्राय भ्रमपूर्ण होती हैं; दूसरे, जो निर्णय कभी विहित थे वे कालातर में वैसे नही रह जाते। परतु अपने निर्णयो के लिए कोई आधार न पाने के कारण आलोचकगण अपनी परपराओ की पुनरावृत्ति करते कभी थकते नही। कभी उदात्त-दु.खात-नाटककार अच्छे समझे जाते थे, और इसीलिये आलोचना उन्हें अब भी अच्छी समझती है। दांते महान् कवि माने जाते थे, राफेल महान् चित्रकार, बाच महान् सगीतज्ञ माने जाते थे और भली कला को बुरी कला से अलग करने का मानदण्ड पास में न होने के कारण आलोचकगण न केवल इन कलाकारो को महान् समझते है वरन् उनकी सभी रचनाओ को प्रशंसनीय और अनुकरणीय समझते है। किसी चीज़ ने कलाभ्रंश में इतना योग नही दिया जितना आलोचना द्वारा स्थापित इन सत्ताओ ने। कोई व्यक्ति स्वानुभूत भावना को अपने विशिष्ट प्रकार से व्यक्त करते हुए, जैसा कि हर सच्चा कलाकार करता है, एक कलाकृति का निर्माण करता है। कलाकार की भावना द्वारा बहुत लोग संक्रमित होते हैं और उसकी कृति प्रख्यात हो जाती है। तब आलोचना, उन कलाकार पर विचार करते हुए, कहती है कि कृति बुरी नही है तथापि कलाकार दांते नही है, न शेक्स-पियर है, न गेटे है, न राफेल है, न अतिम दिनो वाला बीथोवेन है। और युवक कलाकार उन लोगो का अनुकरण करना शुरू कर देता है जिन्हें उनका आदर्श बताया जाता है और वह न केवल क्षीण वरन् मिथ्या, जाली कला की वस्तुएँ रचता है।

उदाहरणार्थ इस प्रकार, पुश्किन अपनी छोटी कविताएँ 'यूजेनी ओनेजिन'

और 'खानाबदोश' और अपनी कहानियाँ लिखते हैं—इनके गुणों मे विभिन्नता है पर सब सच्ची कला है। परंतु शेक्सपियर की प्रशंसा करनेवाली मिथ्या समीक्षा से प्रभावित होकर वह एक रूखी, बुद्धिप्रसूत कृति 'ब्रोरिस गोडुनोव' लिखते है और यह रचना समीक्षकों द्वारा प्रशंसित होती है, आदर्श रूप में प्रतिष्ठित होती है, और इसकी अनुकृतियाँ दिखाई पड़ती है: ओस्ट्रोवस्की कृत 'मिनिन', अलेक्सी तालस्ताय कृत 'जार बोरिस', और ऐसी अनुकृति की अनुकृति सारे साहित्य को नगण्य रचनाओ से भर देती है। समीक्षकों द्वारा की गई प्रमुख क्षति यह है, कि कला द्वारा संक्रमित होने की क्षमता से स्वयमेव हीन होने के कारण (और समस्त कलाकारो का यही लक्षण है क्योंकि यदि उनमें यह अभाव न होता तो वे असभव अर्थात कलाकृतियो की व्याख्या का प्रयास न करते) वे बुद्धिप्रसूत, जोड-तोडकर बनाई कृतियो पर अधिक ध्यान देते है, उनकी स्तुति करते है, उन्हे अनुकरणीय आदर्शो के रूप में प्रतिष्ठित करते है। यही कारण है कि वे साहित्य मे दु:खात नाटकों के ग्रीक लेखको, दाते, तासो, मिल्टन, शेक्सपियर, गेटे (प्राय. उनके सारे साहित्य की), और नवीन लेखको मे जोला और इब्सन की; संगीत मे वीथोवेन के अंतिम काल, और वैगनर की अतिरजित प्रशंसा विश्वास-पूर्ण ढंग से करते है। इन बुद्धिप्रसूत एव जोड़-तोड़कर वनाई गई कृतियों की प्रशसा को न्याय्य प्रमाणित करने के लिये वे पूरे सिद्धांत रच डालते है (जिनमें से सौंदर्य वाला प्रख्यात सिद्धात एक है); और न केवल भेदबुद्धि वरन् प्रतिभावान् जन भी इन सिद्धान्तों के एकदम अनुरूप रचनाएँ करते है, और कभी तो सच्चे कलाकार अपनी प्रतिभा पर आघात करके, इन 'सिद्धांतो' पर आत्मसमर्पण कर देते है।

आलोचकों द्वारा प्रशंसित हर मिथ्या कलाकृति ऐसा द्वार वन जाती है जिसमें कला के नक्काल तत्काल भर जाते है।

केवल आलोचको के ही कारण यह स्थिति है, जो इस युग मे भी प्राचीन ग्रीसवासियों की उद्दण्ड, वर्वर, और प्राय: व्यर्थ कृतियों की प्रशंसा करते है: सोफोक्लीज, यूरिपिडीस, ईस्काइलस, और खासकर अरिस्टोफेन्स की; या आधुनिक लेखकों दांते, तासो, मिल्टन, शेक्सपियर की; चित्र मे राफ़ेल तथा माइकेल ऐंजेलो की सव कृतियों की, उसके वेहूदे 'अंतिम निर्णय' की; सगीत में वाच और वीथोवेन की सव रचनाओं तथा उसके अंतिम समय की भी। इन्ही लोगों को इसका श्रेय है कि इब्सन, मेटर लिंक, वर्लेन, मालार्मे, पुविस दशावेन, क्लिंगर, वोक्लिन, स्टक, सिश्नीडर; और संगीत में वैगनर, लिश्त, वर्लियोज,

और ब्रैह्स और रिचर्डस्ट्रास आदि और इन नकलचियो के निकम्मे नक़लचियों का वृहत् समुदाय इस युग में सम्भव हुआ ।

आलोचना के हानिकर प्रभाव का एक अच्छा उदाहरण है वीथोवेन से आलोचना का सम्वन्ध । फरमाइश पर शीघ्र लिखी गई असंख्य कृतियो में, रूप की कृत्रिमता के वावजूद अनेक सच्ची कलाकृतियाँ भी है । परतु वह वहरा हो जाता है, सुन नही सकता, और खीचतान कर अपूर्ण चीजे लिखने लग जाता है जो परिणाम स्वरूप प्राय: व्यर्थ और संगीत की दृष्टि से अवोधगम्य होती है । मै जानता हूँ कि सगीतज्ञ लोग ध्वनियो की पर्याप्त विशद कल्पना कर सकते है और क़रीव-करीव जो कुछ पढते है उसे सुन सकते हैं, परंतु काल्पनिक ध्वनियाँ सत्य ध्वनियो-सी नही हो सकती और अपनी रचना को शुद्ध करने के निमित्त प्रत्येक सगीतकार का उसे सुनना आवश्यक है । वीथोवेन सुन नही सकता था, अपनी रचनाओ को प्रपूर्ण नही वना सका, और फलत. ऐसी रचनाएँ उसने प्रकाशित की जो कलात्मक रोर है । परंतु आलोचना उन्हे एक कर वड़ा सगीतकार मान लेने के कारण इन असाधारण कृतियों को विशेष उत्साहिपूर्वक पकड लेती है और उनमें असाधारण सौंदर्य खोजती है । और अपनी प्रशसा को न्याय्य प्रमाणित करने के लिये (संगीत कला के अर्थ को विभ्रष्ट करते हुए) इसने सगीत को उसका वर्णनाधिकार सौंप दिया जिसके वर्णन में वह असमर्थ है । और नक्काल उत्पन्न होते हैं—उन कलात्मक रचनाओ के निर्माण निमित्त इन असाधारण प्रयत्नो के अनस्य नक्क़ाल उत्पन्न होते है जिन्हे वीथोवेन ने वहरा होने के वाद लिखा ।

तव वैगनर आये, जिन्होने पहले आलोचनात्मक लेखो में वीथोवेन के केवल अतिम काल की प्रशंसा की, और इस सगीत को शोपेनहावर के इस रहस्यपूर्ण सिद्धान्त से संयुक्त किया कि संगीत सकल्प की अभिव्यक्ति है—न कि विभिन्न स्तरो पर वस्तुमान् किये गये सकल्प के पृथक रूपो की, वल्कि इसी के सार तत्व की—जो उतना ही वेहूदा सिद्धान्त है जितना वीथोवेन का सगीत । और तत्पश्चात् उन्होने इस सिद्धान्त पर और सव कलाओ के ऐक्य की और भी त्रुटिपूर्ण व्यवस्था पर अपने गीत का निर्णय किया । वैगनर के वाद नये नक्क़ाल हुए जो कला से और भी दूर निकल गए : व्रैहम्स, रिचर्ड स्ट्राम और अन्य ।

आलोचना के ये परिणाम होते है । परतु कलाभ्रश की तीसरी शर्त अर्थात, कलानिकाय, प्राय: और भी अधिक हानिकर है ।

ज्यों ही कला सब के लिये कला न रहकर केवल धनिक वर्ग के लिए रह गई त्यों ही वह पेशा बन गई; ज्यो ही वह पेशा बन गई उसे पढाने के उपाय सोचे गए; जिन लोगों ने कला का पेशा चुना वे इन उपायों (तरीकों) को सीखने लगे और इस तरह पेशेवर स्कूल स्थापित हो गये। पब्लिक स्कूलों में साहित्य या अलंकार शास्त्र की कथाएँ, चित्रकला के लिये विद्यापीठ, संगीत के लिये संस्थान और नाट्य-कला के लिये पाठशालाएँ।

इन पाठशालाओं में कला पढ़ाई जाती है! परंतु कला, कलाकार द्वारा अनुभूत एक विशेष भावना का अन्यों तक प्रेषण है। यह स्कूलों में कैसे पढ़ायी जा सकती है?

किसी मनुष्य में कोई स्कूल भावना नही उत्पन्न कर सकता, और अपने निजी विशिष्ट, स्वाभाविक प्रकार से उसे कैसे व्यक्त करना चाहिये इसकी शिक्षा तो वह और भी नहीं दे सकता। परंतु कला का प्राण तो इन्ही चीजों में है।

एक चीज़ जो ये स्कूल पढ़ा सकते हैं वह है अन्य कलाकारों द्वारा अनुभूत भावनाओं को उसी प्रकार कैसे प्रेषित किया जाय जैसे उन अन्य कलाकारो ने उन्हें प्रषित किया। और पेशेवर स्कूल केवल यही पढ़ाते हैं; और ऐसी शिक्षा न केवल सच्ची कला के प्रसार में सहायक नही होती वरन् उल्टे, जाली कला के प्रचार द्वारा, अन्य किसी चीज़ की अपेक्षा, लोगों को सच्ची कला समझने की योग्यता से कही अधिक वंचित करती है।

साहित्यिक कला मे जब कि लोगो के पास कहने के लिये कुछ भी नही होता और जिस विषय पर उन्होंने कभी सोचा नही, उसपर उन्हे बहुपृष्ठीय लेख लिखना सिखाया जाता है, और इस तरह कि किसी ख्यात लेखक की कृति से वह मिलता-जुलता हो। स्कूलों मे यह पढ़ाया जाता है।

चित्रकला मे प्रमुख प्रशिक्षण है पदार्थ या प्रतिभा के आधार पर रेखांकन या वर्णविन्यास सीखना, खासकर नग्न शरीर (वही वस्तु जो कभी नही दिखाई पड़ती और जिसे चित्रित करने की उसे मुश्किल से ही कभी ज़रूरत पड़ती है जो सच्ची कला में व्यस्त है), और पहले के आचार्यो की तरह रेखांकन और वर्ण-व्यवस्था करना सीखना। पहले के मान्य, प्रख्यात जन द्वारा प्रयुक्त विषयों के सदृश विषय देकर चित्र-निर्माण सिखाया जाता है।

उसी प्रकार नाटक पाठशालाओ मे भी—शिष्यों को स्वगत पाठ सिखाया

जाता है, ठीक वैसे, जैसे प्रख्यात माने जानेवाले दुःखांत-लेखक 'स्वगत' की आलंकारिक प्रशंसा करते हैं।

संगीत में भी यही स्थिति है। संगीत का सारा सिद्धांत सिवाय उन उपायों की असंबद्ध आवृत्ति के और कुछ नहीं है जिनका प्रयोग गण्यमान्य संगीतकार करते थे।

मैंने कहीं कला पर रूसी कलाकार ब्रूयूलोव का गंभीर कथन उद्धृत किया है, परंतु मैं यहाँ उसे दुहराये बिना नहीं रह सकता, क्योंकि और कोई भी चीज उतनी अच्छी तरह यह नहीं बताती कि स्कूलों में क्या पढाया जा सकता है और क्या नहीं। एक बार एक विद्यार्थी के चित्र के खाके में संशोधन करते समय, ब्रूयूलोव ने यत्रतत्र छू दिया और वह दरिद्र, मृत खाका तत्काल सजीव हो उठा। एक शिष्य ने पूछा, 'आपने तो केवल थोडा-सा इसे छुआभर है और यह एकदम दूसरी चीज़ हो गई!' ब्रूयूलोव ने उत्तर दिया "कला वहीं प्रारंभ होती है जहाँ 'थोड़ा-सा' प्रारंभ होता है ।" इन शब्दों में उन्होंने कला के सर्वप्रमुख लक्षण का उल्लेख कर दिया। यह कथन सभी कलाओं के लिए सत्य है, परंतु इसका न्याय संगीत-प्रदर्शन में विशेषतया दृष्टव्य है। संगीत कलात्मक हो, कला हो, अर्थात् संक्रामक हो, ये तीन शर्तें पाली जानी चाहिये। संगीतात्मक पूर्णता के लिए अन्य भी अनेक शर्तें हैं : एक ध्वनि से दूसरी तक का संक्रमण निरंतर हो या बाधित; ध्वनि बराबर बढ़ती या घटती रहे, यह एक ही ध्वनि से समन्वित हो, दूसरी से नहीं, ध्वनि में अमुक अमुक लय हो, इत्यादि—परन्तु प्रमुख शर्तों को लीजिये : उतार-चढाव, समय और ध्वनि की शक्ति। संगीत तभी कला है और तभी संक्रमित करता है जब आवश्यकता से अधिक ध्वनि न ऊँची हो न नीची, अर्थात् जब अपेक्षित स्वर का अत्यधिक लघु केन्द्र एक दम ठीक-ठीक लिया जाता है, जब वह स्वर ठीक उतनी देर जारी रहता है जितने की आवश्यकता है; और जब ध्वनि की शक्ति आवश्यकता से न तो अधिक है, न कम। किसी भी दिशा में आरोह-अवरोह का थोडा भी व्यतिक्रम, समय में अल्पतम ह्रास या वृद्धि, या अपेक्षित से अधिक ध्वनि की अल्पतम सबलता या दुर्बलता, परिपूर्णता विनष्ट कर देते हैं और फलतः कृति की संक्रामकता भी। अतः संगीत कला द्वारा संक्रामकता की भावना, जो इतनी सरल तथा सहज प्राप्य मालूम पडती है, वह वस्तु है जिसे हम तब प्राप्त करते हैं जब वादक या गायक संगीत की पूर्णता के लिए अपेक्षित अत्यधिक सूक्ष्मतम मात्राओं को उपलब्ध कर

लता है। सब कलाओं में यह बात लागू होती है। थोड़ा-सा हल्का या गहरा, थोडा ऊँचा या नीचा, दाहिनी या बांईं ओर—चित्रकला में; स्वरोच्चार मे थोडी सबलता या दुर्बलता, थोडी देर या जल्दी—नाटक कला में; थोड़ा व्यक्त, अधिक सबलता से प्रतिपादित या अतिरंजित—काव्य मे, और परिणाम यह होगा कि उनमें संक्रामकता न होगी। जब कोई कलाकार उन अत्यधिक सूक्ष्मतम मात्राओ को पा लेता है जिनसे कोई कलाकृति बनती है और जिस हद तक वह उन्हे पाता है उसी हद तक और उसी मात्रा में संक्रामक शक्ति उत्पन्न होती है। और बाह्य उपकरणों द्वारा इन सूक्ष्म मात्राओं की प्राप्ति लोगों को सिखाना एक दम असंभव है: वे तभी प्राप्त होती हैं जब कोई व्यक्ति अपनी भावना पर समर्पित होता है। कोई शिक्षा नर्तक को संगीत का उचित समय ग्रहण करना नही सिखा सकती, गायक या वादक को अपने स्वर के अत्यधिक सूक्ष्म केन्द्र को ग्रहण करना नहीं सिखा सकती और कोई शिक्षा किसी रेखाकार को सब संभव रेखाओं में से केवल सही रेखा खीचना, या किसी कवि को केवल उचित शब्दों की एकमात्र सही योजना करना नही सिखा सकती। यह सब केवल भावना द्वारा प्राप्त होता है। अतएव स्कूल कला नही कला से मिलती-जुलती किसी चीज़ के निर्माणार्थ अपेक्षित बातें पढा सकते हैं।

स्कूलो की शिक्षा वहाँ समाप्त हो जाती है जहाँ 'थोडा-सा' प्रारभ होता है, फलतः जहाँ कला प्रारंभ होती है।

लोगो को कला से मिलती-जुलती चीजों का अभ्यस्त बना देना उन्हे सत्य कला के बोध से अनभ्यस्त बना देना है। और इसीलिए कला के प्रति उन लोगों से बढकर उदासीन कोई नही जो पेशेवर स्कूलो से पास हुए है और वहाँ बहुत सफल रहे हैं। पेशेवर स्कूल कला का ढोंग उत्पन्न करते हैं ठीक धर्म के ढोंग जैसा जो प्रचारको, पादरियो, धर्म-शिक्षको के प्रशिक्षण के लिये धर्म-विद्यापीठों द्वारा उत्पन्न किया जाता है। और किसी स्कूल में किसी व्यक्ति को प्रशिक्षण द्वारा धर्म-शिक्षक बनाना असभव है, उसी तरह किसी मनुष्य को यह सिखाना असंभव है कि कैसे कलाकार होना चाहिए।

कला-पाठशालाएँ इस प्रकार कला के लिए दुगुनी घातक हैं: प्रथम, वे उनमें सच्ची कला-सृष्टि की क्षमता नष्ट कर देती हैं जो दुर्भाग्यवश वहाँ प्रवेश लेकर ७ या ८ साल का पाठ्यक्रम पढते हैं; द्वितीय, वे विपुल परिमाण में उस जाली कला का सृजन करती हैं जो जनता की रुचि को विकृत करती है और संसार

में जिसकी वाढ़ आ जाती है, ताकि जन्मजात कलाकार, पूर्ववर्ती कलाकारो द्वारा विशद रूप से वर्णित विविध कलाओं के नियमो को जान सकें एतदर्थ सब प्रारभिक पाठशालाओं में चित्र और संगीत (गायन) कला की ऐसी कक्षाएँ होनी चाहिए कि जिन्हें प्राप्त करने के वाद, प्रत्येक प्रतिभावान् विद्वान्, सर्वसुलभ पदार्थों के प्रयोग द्वारा, अपनी कला में अपने को स्वतंत्रतापूर्वक सुदीक्षित कर सके ।

इन तीन शर्तों—कलाकारो की पेशेवाजी, कला समीक्षा और कलानिकाय—का यह प्रभाव हुआ कि हमारे युग में अधिकाश लोग यह समझने में एक दम असमर्थ हैं कि कला क्या है, और घृणिततम जाली कृतियो को कला के रूप में स्वीकार करते हैं ।